जीवन विकास एवं विनाश के सूत्र

(अनेकांत की दृष्टि से भाग्य एवं पुरुषार्थ)

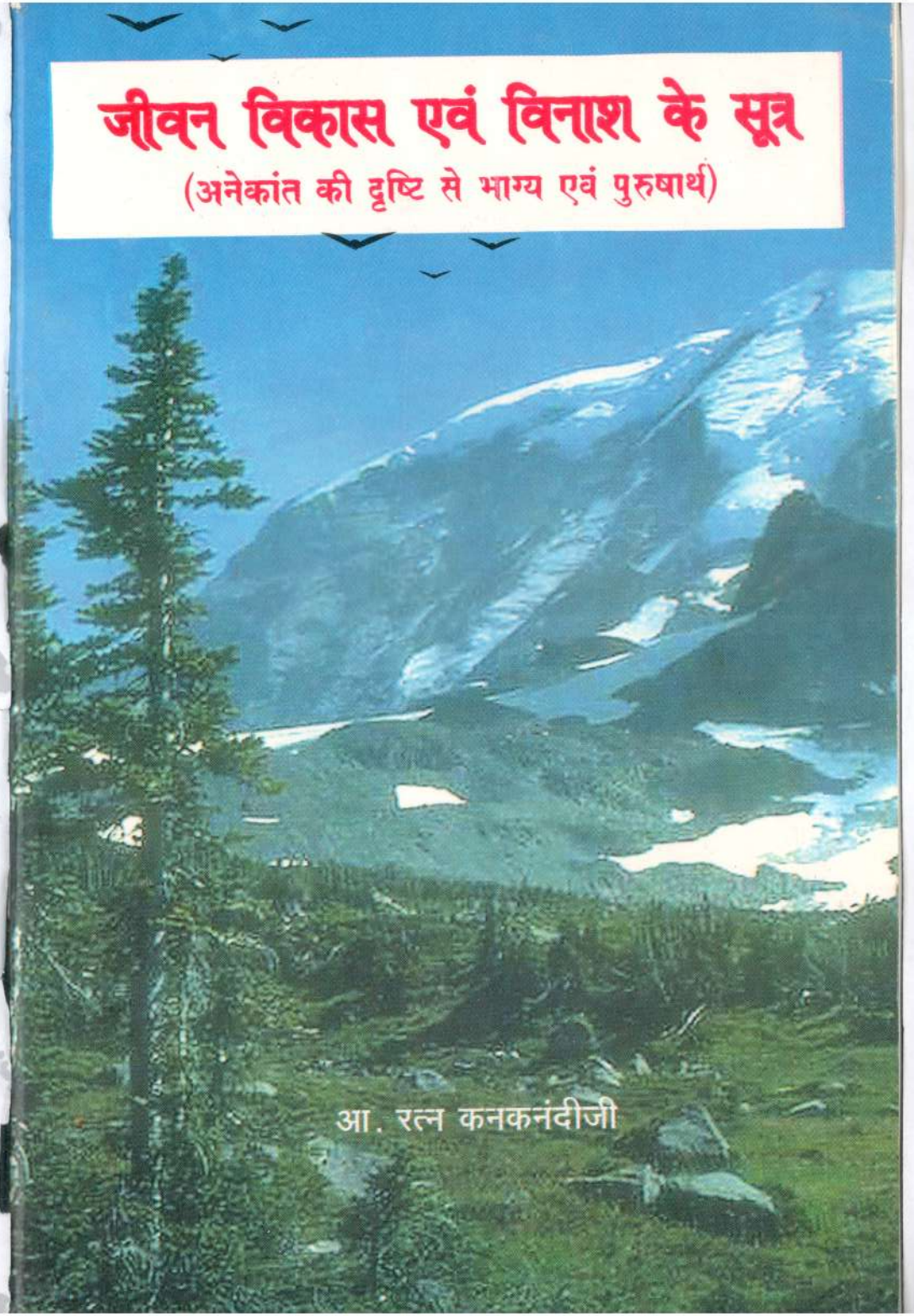

आ. रत्न कनकनंदीजी

जीवन विकास एवं विनाश के सूत्र

(अनेकान्त की दृष्टि से भाग्य एवं पुरुषार्थ)

आ.श्री कनकनंदीजी द्वारा रचित ग्रन्थों का विमोचन करते हुए उनके दीक्षागुरु गणधराचार्य श्री कुन्थुसागरजी महाराज

लेखक
विज्ञानाचार्यश्री कनकनन्दीजी गुरुदेव

धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान तथा धर्म दर्शन सेवा संस्थान–ग्रंथांक 133

जीवन विकास एवं विनाश के सूत्र

(अनेकान्त की दृष्टि से भाग्य एवं पुरुषार्थ)

पावन प्रसंग – भगवान् महावीर की 2600वीं जन्मजयन्ती

लेखक – विज्ञानाचार्यश्री कनकनंदी जी गुरुदेव

भाग्य एवं पुरुषार्थ का दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक रहस्य को नहीं जानने वाले तो कुछ केवल दैव / भाग्य के भरोसे ज्योतिष / भविष्यफल कथन / हस्तरेखा/ टोना–टोटका, मंत्र–यंत्र, पूजा–पाठ, देवी–देवता के चक्कर में पड़कर पुरुषार्थ विमुख होकर आलसी / अकर्मण्य बन जाते हैं जिसके कारण वह न पूर्वकृत कुभाग्य/ पाप को परिमार्जित/ दुर्बल/प्रभावित/ पराभूत कर पाते हैं और न नवीन सुभाग्य/ पुण्य का संपादन करते हुए व्यक्तिगत/पारिवारिक/आर्थिक/सामाजिक/राष्ट्रीय/ वैश्विक विकास कर पाते हैं तो कुछ केवल पुरुषार्थवादी नीति, नियम, सदाचार, सत्य, अहिंसा, न्याय, परोपकार, निःस्वार्थभाव आदि पुण्य / सुकृत को त्याग करके अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, चोरी, डकैती, मिलावट, धोखाधड़ी, शोषण आदि के द्वारा विकास करना चाहते हैं जिससे उन्हें अन्ततोगत्वा विकास के परिवर्तन में विनाश को गले लगाना पड़ता है। अतः उपर्युक्त दोनों चरमपंथी / वामपंथी/ एकान्तपंथी मार्ग को त्याग करके सम्यक् भाग्य एवं पुरुषार्थ का मार्ग अपनाना चाहिए जिससे सर्वांगीण विकास हो। इस सम्यक् मार्ग को जानने के लिए अध्ययन करें। इस कृतिका विशेष परिज्ञान के लिए पढ़ें लेखक की "भाग्य एवं पुरुषार्थ", "कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण", "पुण्य पाप मीमांसा", "निमित्त उपादान मीमांसा।"

– आ. कनकनंदीजी गुरुदेव

द्रव्यदाता : दानप्रेमी, धर्मशीला श्रीमती बेला जैन (बम्बई)

मूल्य : (ज्ञान प्रचारार्थ आपकी सहयोग राशि) - 10.00

संस्करण : 2001, प्रतियाँ : 1000

www.jain kanaknandhi.org.

E-Mail - info@jainkanaknadhi.org.

Jain Kanaknandhi@rediffmail.com

Pass word - Kanaknandhi

1. धर्म–दर्शन–विज्ञान शोध संस्थान – बड़ौत, मुजफ्फरनगर, कोटा, उदयपुर, सलुम्बर, मुम्बई
2. धर्म दर्शन सेवा संस्थान – उदयपुर (राज.), पंजीयन क्रमांक / 18 / उदयपुर01–02

प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान–

(1) श्री सुशीलचन्द्रजी जैन–

'धर्म–दर्शन–विज्ञान शोध संस्थान' निकट दि. जैन धर्माशाला, बड़ौत

फोन. नं. (01234) 62845

(2) श्रीमती रत्नमाला जैन C/o डॉ. राजमलजी जैन

4–5 आदर्श कॉलोनी पुलाँ, उदयपुर (राज.)फो. नं. (0294) 440793

(3) श्री गुणपालजी जैन

बेहड़ा भवन 87/1 कुंदनपुरा मुजफ्फरनगर फो नं. : (0131) 450229

(4) श्रीमती लक्ष्मीगुरुचरण जी जैन

144 मुवी टावर नीयर, मिल्लतनगर लोखण्डवाला कॉम्पलेक्स,

अंधेरी (प.) मुंबई–400053

फोन नं. : (022) 6327152, 6312124, 6327152

(5) 'सेवाश्री' सुरेखा जैन (शिक्षिका) w/o वीरेन्द्रकुमार डालचन्दजी गड़िया

कपड़े के व्यापारी – सलुम्बर जि. उदयपुर पिन. 313001

फोन नं. : (02906) 32043

(6) श्री महावीर कुमार जैन

13 अग्रसेन कॉलोनी, दादाबाड़ी कोटा फोन नं. : (0744) 410818

(7) धर्म दर्शन सेवा संस्थान

C/o चन्द्रप्रभु मंदिर, आयड़, छोटूलाल चित्तोड़ा

आयड़ बस स्टोप के पास, उदयपुर–313001(राज.)

फोन न. 413565

(8) Pradhuman S. Javeri, (M.S., Elect. Eng.)

5829, Broad Well Drive, Plano, TX. 75093 (U.S.A.)

E-mail : laxmizaveri@yahoo.com, Ph. : 011-972-608-0400

लेसर टाईप सेटर्स :

श्री कुन्थुसागर ग्राफिक्स सेन्टर 25, शिरोमणि बंगलोज,

सी.टी.एम. चार रस्ता के पास, अहमदाबाद–380026

फोन – 5892744, 5891771

आमुख एवं आशीष

'भाग्य एवं पुरुषार्थ' एक दृष्टि से एक ही विषय के दो पहलू हैं। क्योंकि वर्तमान का पुरुषार्थ ही भविष्यत् का भाग्य हैं। वर्तमान का पुरुषार्थ भी पूर्व भाग्य से कुछ अंश तक प्रेरित भी होता है। जैसे-बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से बीज की उत्पत्ति होती हैं, उसी प्रकार पुरुषार्थ से भाग्य तथा भाग्य से पुरुषार्थ की उत्पत्ति होती है।

कभी-कभी प्रचण्ड कर्म शक्ति के सामने सामान्य जीव का पुरुषार्थ निष्प्रभ होता है तो भी प्रबल पुरुषार्थ से महान शक्तिशाली महान् पुरुष कर्म की शक्ति को भी पराभूत कर देते हैं। जैसे-अग्नि द्वारा बीज को भस्म करने के पश्चात् उस भस्म-भूत बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार प्रबल पुरुषार्थ रूपी अग्नि से भाग्य रुपी बीज को पूर्ण रूप से भस्म किया जा सकता हैं। सापेक्ष दृष्टि से देखने पर पुरुषार्थ भाग्य से श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करता है। अतः भाग्य को जागृत करने के लिए तथा भाग्य पर विजय प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थियों को अपने प्रबल पुरुषार्थ से भाग्य को जगना चाहिए। उपनिषद में भी कहा हैं-

आस्ते भग आसीन स्योर्ध्व तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निषध मानस्य चरति चरतो भगः॥चरैवैती

पुरुषार्थ हीन होकर बैठे रहने से भाग्य भी बैठा रहता हैं। पुरुषार्थ से खड़ा होने से भाग्य भी खड़ा हो जाता है। पुरुषार्थ हीन होकर सोने से भाग्य भी सो जाता है। प्रबल पुरुषार्थ से आगे बढ़ने से भाग्य भी आगे बढ़ता है इसलिए हे पुरुषार्थी आगे बढ़ते चलो, बढ़ते चलो!

कलि शयनो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उतिष्ठं स्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥चरैवैती चरैवैती

पुरुष शयन करने से उसके लिए वह समय कलयुग होता हैं अर्थात् पुरुषार्थ नहीं करना, कलयुग का आह्वान करना है। पुरुषार्थ के लिए जागृत होने पर उसके लिए वह काल द्वापर युग हो जाता है। कार्य करने के लिए खड़े होने पर वह काल उसके लिए त्रेता युग हो जाता है कार्य करने के लिए आगे बढ़ने से वह काल सतयुग हो जाता है। इसलिए हे पुरुषार्थी!

सत्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ते ही चलो बढ़ते ही चलो।

स्व सुभाग्य एवं दुर्भाग्य का कर्त्ता, धर्ता, भोक्ता, हर्ता स्वयं जीव होने के कारण जीव को यह स्वतन्त्रता एवं अधिकार मिला है कि वह किसका चुनाव करता है। ''जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'' के अनुसार जीव के अन्तर में जो है वही उसे ब्रह्माण्ड में परिलक्षित होगा और उपलब्ध होगा। यह सिद्धान्त वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक कर्म सैद्धान्तिक, व्यावहारिक भी है। 'जई मई, तई गई होई' 'जैसी मति वैसी गति' 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' 'As you think so you become' 'जैसा विचार, वैसा संसार' आदि सूत्र वाक्य हमारे अन्तरंग एवं बहिरंग के 'कार्य-कारण' क्रिया-प्रतिक्रिया, वस्तु एवं प्रतिबिम्ब को प्रदर्शित करते हैं। इसीलिए हमें जो कुछ चाहिए उसे सर्वप्रथम स्वयं से ही प्रारम्भ करना चाहिए। जिसप्रकार चेतना स्वयं ज्ञान / संवेदना से युक्त होने के कारण दूसरें ज्ञेयों को भी जानती है। जिसकी चेतना जितनी परिष्कृत/समृद्ध होगी वह उतना ही अधिक से अधिक ज्ञेयों को निभ्रान्त (सम्यक्) रूप से जानता है। जिसकी चेतना जितनी विकृत है वह उतना विकृतरुप में जानता है। जिसकी चेतना ही नहीं है यथा जड़-द्रव्य वह कुछ भी नहीं जानता है। इसी प्रकार जो सुख, शांति, समृद्धि चाहता है वह स्वयं के भाव एवं व्यवहार में ऐसे गुणों को विकसित करे। यह है विकास एवं विनाश का मूलभूत सिद्धान्त। इसका सुविस्तृत वर्णन इस कृति में किया गया है। विकास चाहने वाले सुखेच्छु जीव सम्यक् भाग्य एवं पुरुषार्थ के माध्यम से शाश्वतिक सुख, शांति, समृद्धि को प्राप्त करें ऐसी महती शुभ भावना के साथ।

आचार्य कनकनंदीजी गुरुदेव

पानी के अभाव में भी मृत्यु संभव है तो पानी में डूबने पर भी मृत्यु अवश्यंभावी है। उसी तरह निंदा, अपमान, हानी आदि से विचलित होना संभव है तो प्रसंशा, प्रलोभन, लाभ, लोभ से भी विचलित होना संभव है। निंदा आदि प्रतिकूल उपसर्ग / परिषह / प्रकोप है तो प्रसंशा आदि अनुकूल उपसर्ग है।

– आ. कनकनंदीजी गुरुदेव

जीवन विकास की यात्रा

आर्यिका ऋद्धिश्री

प्राचीन शास्त्रकार एवं आधुनिक विचारक दोनों ही इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य जीवन अपने आप में अद्भुत एवं महान् है। फिर भी देखा जाता है कि अगणित व्यक्ति इस श्रेष्ठतम अनुदान को लिए हुए भी दीन–हीन, पीड़ाग्रस्त, पतित, निकृष्टतम जीवन जीते हैं। विचारकों के कथन तथा आँखों के सामने की स्थिति दोनों तथ्य एक दूसरें का खण्डन करते हुए दीखते हैं किंतु दोनों में से किसी की भी उपेक्षा करके किसी एक को सही नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न उठता है– यह विसंगति क्यों है? उत्तर एक ही है ''उपलब्ध साधनों का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग'' कोई साधन अपने आप में कितना भी श्रेष्ठ, महान् होकर स्वयं में भला या बुरा नहीं कहा जा सकता। उसकी भलाई बुराई उसके सदुपयोग अथवा दुरुपयोग पर निर्भर है। संखिया मरने के काम में भी आता है एवं जीवन प्राप्ति के लिए औषधीय गुण भी देता है। एक पत्थर से आटा पीसकर जीवन निर्वाह करते हुए अगणित प्राणियों की क्षुधा वेदना शांत कर सकते हैं, वही पत्थर दूसरों के मारने के काम भी आ सकता है। इस प्रकार हरवस्तु का सदुपयोग, दुरुपयोग उसके प्रयोग करने पर निर्भर करता है।

मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा विवेक, बुद्धि सबसे अधिक है इस अपेक्षा से मनुष्य को भी प्राणियों में श्रेष्ठ, महान् गिना जाता है। लेकिन अन्य प्राणियों की अपेक्षा दुरुपयोग भी मनुष्य ही सबसे अधिक करता है। इसीलिए पेड़, पौधे, पशु–पक्षियों से निकृष्ट, दुष्ट, क्रूर, हीन, पापी होता है। जीवनभर माँसाहार करने वाला हिंसक पशु शेर भी मरकर 5वें नरक तक ही जाता है लेकिन मनुष्य 7वें नरक जाता है। जितना मायाचारी, कूट–कपट, स्वार्थपरता, निकृष्टता, कायरता, असंगठन, ईर्ष्या, दूसरों को नीचा दिखाने एवं गिराने की भावना, कामना मनुष्य में होती है उतनी ये सब दुष्प्रवृत्तियाँ पशुओं में भी नहीं होती। इसीलिए तो पशु–पक्षी, पेड़ पौधे एक अपेक्षा से मनुष्य से भी श्रेष्ठ, महान् हैं। क्योंकि वे अपनी हर उपलब्धि का प्रायः सदुपयोग ही अधिक करते हैं यहाँ तक कि स्वयं के लिए कम एवं दूसरों के लिए अधिक करते हैं। जैसे कि गाय, भैंस, बकरी आदि पशु खाने में केवल घास–फूस ही खाते हैं और बदले में दूध, घी, मक्खन, बोझा,

सवारी ढोना, खेती में सहकार करना, मलमूत्र से खाद्य ईंधन एवं अनेकों औषधियां देना तथा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति होती है। जबकि मनुष्य अच्छे एवं मँहगे पदार्थ खाकर भी दूसरों को उसके बदले में क्या देता है? केवल प्रदूषण एवं गंदगी। पेड़ पौधें भी खाद्य के रूप में सूर्य किरणें, वायु, जल, मिट्टी लेते हैं एवं दूसरों को मीठे फल, मेवे, वस्त्र, लकड़ी, औषधि, तिलहन, तेल, ऑक्सीजन (प्राणवायु) देते हैं। अगर पेड़ पौधे पशु–पक्षी नहीं होते तो मनुष्य किसी भी हालात में जीवित नहीं रह सकता था। क्योंकि ऑक्सीजन एवं इन सभी वस्तुओं की पूर्ति वह कैसे किसप्रकार कर सकता था? मनुष्य के पास तो कार्बन डाईऑक्साइड है जिससे प्रदूषण, गंदगी एवं दूसरों का जीवन ही नष्ट होगा। इसप्रकार मनुष्य एक दृष्टि से पशु–पक्षी, पेड़–पोधों से भी निकृष्ट, तुच्छ, हीन है। लेकिन दूसरी दृष्टि की अपेक्षा मनुष्य अपने विवेक बुद्धि के बल पर विकास करने की क्षमता रखता है। अगर मनुष्य विवेकबुद्धि से इन सभी का समुचित सदुपयोग नहीं करता तो इन सभी में ये क्षमतायें होते हुए भी गुप्त सुप्त, अनावश्यक अवस्था में ही रहती। इनका लाभ नहीं मिल सकता था। मनुष्यने अपनी बुद्धि विवेक से हर वस्तु का सदुपयोग करके उसको लाभकारी / उपयोगकारी बना लिया। इसीलिए मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा महान् / श्रेष्ठ गिना जाता है। लेकिन अधिकांश रूप में पाया जाता है कि मानव ने उपलब्धियों का सदुपयोग कम एवं दुरुपयोग ही अधिक किया है।

इन सभी विषयों का तार्किक, वैज्ञानिक, अनुभवात्मक, विस्तृत वर्णन इस कृति में अवश्य ही सबके पढ़ने योग्य है कि किस प्रकार मानव, संकीर्ण, स्वार्थी, क्रूर, निकृष्टतम होता है।

जीवन विकास में मनुष्य की सदवृत्तियाँ ही सबसे महत्वपूर्ण होती है। धर्म का विकास भी इन्हीं सदवृत्तियों से होता है। मनुष्यने यदि निकृष्ट कार्य किये तो ज्ञान होने पर उनका त्याग करके वह महान तपस्वी भी बन सका। मैं यह मानती हूँ कि गुरुदेव मनुष्य के जीवन विकास की यात्रा का मार्ग प्रशस्त कर रहे है। जो इस मार्ग पर आरुढ़ होगा वह निश्चित रूप से परम पद की ओर अग्रसर होगा। आचार्य उमास्वामी ने कहा है कि सम्यगदर्शन – ज्ञान – चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं, स्वयं मोक्ष के मार्ग नहीं। इसी तरह गुरुदेव के उपदेश जीवन विकास की यात्रा के दर्शक है चलना तो हमे ही होगा।

अनुक्रमणिका

अध्याय	पृष्ठ
1. जीवन विकास एवं विनाश के सूत्र	1
आत्म विश्वास	1
हिताहित विवेक	2
सदाचार	3
सम्यानुबद्धता कर्तव्यनिष्ठा	4
धैर्य साहस	6
क्रमबद्ध व्यवस्थित कार्य प्रणाली	8
एकाग्र निष्ठता / समर्पित भाव	9
भाव की पवित्रता	10
स्वावलंबन – स्वतंत्रता	11
संकल्प शक्ति	13
2. दैव (कर्म) सिद्धान्त	14
3. अनेकान्त एवं स्याद्वाद की दृष्टि से भाग्य एवं पुरूषार्थ	17
पुरूषार्थ एवं भाग्य में कारण कार्य भाव	25
एकान्त पुरूषार्थवाद	39
दैव पुरूषार्थ की सप्तभंगी	46
4. दैव (कर्म) सिद्धान्त का वैज्ञानिक विश्लेषण	48
5. अनेकान्त एवं स्याद्वाद	53
अनेकांत	53
स्याद्वाद	53
स्याद्वाद के सप्तभंग	54

1 जीवन विकास एवं विनाश के सूत्र

बीज का स्वभाव जिस प्रकार विकास करता हुआ अंकुर से वृक्ष–फूल–फल तक परिणमन करना है उसी प्रकार जीव का भी स्वभाव विकास करता हुआ जीव से जिनेन्द्र, आत्मा से परमात्मा, भव्य से भगवान् बनना है। परन्तु जिस प्रकार बीज योग्य जल, वायु, सूर्य, किरण, मृदा आदि के निमित्त से अंकुरित होकर विकास करता है उसी प्रकार जीवन भी कुछ तत्व के कारण विकास करता है। जिस प्रकार लम्बे सूत्र में अनेक तंतु परस्पर में गुंथे रहते हैं उसी प्रकार जीवन–विकास रुपी सूत्र (उपाय, कारण, नियम, प्रणाली, तत्त्व) में अनेक सद्गुण रूपी तन्तु होते हैं। जिस प्रकार सूत्र (धागा, सूत) तन्तु के बिना नहीं होता है उसी प्रकार सद्गुण रूपी तन्तु के बिना, विकास रूपी सूत्र भी संभव नहीं है। निम्न में जीवन विकास रूपी सूत्र की कुछ सद्गुण रूपी तन्तुओं का वर्णन कर रहा हूँ–

आत्मविश्वास

विकास के लिए आत्म–विश्वास का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह गुण विकास के अन्यान्य गुणों को सजीव–सक्रिय–समर्थ बनाता है। इसके बिना अन्यान्य गुण भी प्राण से हीन शरीर के समान हो जाते हैं। इसलिए जैन धर्म में आत्म–विश्वास–आत्म श्रद्धा को धर्म का मूल कहा है। यथा– 'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् सम्यग्दर्शन – आत्मविश्वास धर्म का मूल है। जिस प्रकार मूल के बिना वृक्ष की स्थिति, वृद्धि आदि नहीं होती है उसी प्रकार आत्म विश्वास के बिना ज्ञान, चारित्र की स्थिति / वृद्धि आदि नहीं होती है। अर्थात् आत्म विश्वास के बिना ज्ञान न ज्ञान है, चारित्र न चारित्र है। विकास का समुच्चय है– आत्मवश्विास, ज्ञान और चारित्र। आत्मविश्वास के बिना ज्ञान और चारित्र कार्यकारी नहीं होते हैं। इसलिए कहा है– **संशयात्मा विनश्यति** अर्थात् आत्मविश्वास से रहित संशयशील व्यक्ति विनाश को प्राप्त हो जाता है और इससे विपरीत आत्मविश्वासी विकास को प्राप्त करता है। अविश्वास से विनाश है तो मिथ्या विश्वास / अति–विश्वास से भी विनाश है। इतना ही नहीं अन्यान्य विषयों का तो विश्वास है परन्तु आत्मविश्वास नहीं तो उसका विश्वास भी अंक के बिना शून्य के समान निरर्थक है। केवल ईश्वर, इहलोक, परलोक, स्वर्ग, नरक आदि का विश्वास करना ही आस्तिकता

नहीं है परन्तु स्व–आत्म– विश्वास करना ही सच्ची आस्तिकता हैं। आत्म विश्वास में यह विश्वास होता हैं कि– ''मैं ही शुद्ध स्वरूप रूप से सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, अमृत हूँ, प्रभु हूँ, विभू हूँ, स्व दुःख – सुख का कर्ता–भोक्ता मैं ही हूँ। विश्व के तीन लोक तीन काल में जो महान् से महान् पुरूष हुए हैं, उन्होंने जो कुछ अच्छे से अच्छे कार्य किए हैं उन सब कार्य को मैं भी कर सकता हूँ; मैं किसी से बड़ा नहीं हूँ तो किसी से छोटा भी नहीं हूँ।'' आत्म विश्वास के बल पर ही व्यक्ति महान् से महान् कठिन से कठिन कार्य कर सकता है। आत्म विश्वास से हीन व्यक्ति छोटे से छोटे कार्य को भी नहीं कर सकता है। आत्म विश्वास के बिना व्यक्ति हीन ग्रन्थि, हीन भावना से ग्रसित हो जाता है। तो अति आत्म विश्वास से व्यक्ति अहंग्रन्थि / अहंभावना / अहंकार / गर्व से युक्त हो जाता है। इसलिए संतुलित / सम्यक् आत्म विश्वास ही विकास का कारण है आत्महीनता या अहंवाद नहीं।

हिताहित विवेक

जीवन विकास के लिए आत्म स्वभाव के विश्वास के बाद आत्म कल्याण के लिए हित एवं अहित का परिज्ञान होना चाहिए। जैसे कि भयंकर घनघोर जंगल में यात्रा के लिए आत्म विश्वास के साथ जंगल का रास्ता, वहाँ के हिंसक पशु–पक्षीगण, काँटे आदि का ज्ञान और उससे बचकर चलने का परिज्ञान भी चाहिए। वैसे ही संकटपूर्ण संसार में विकास की यात्रा में स्वयं के लिए हितकर का स्वीकार, अहितकर के त्याग का विवेक होना चाहिए। कहा है– ''**अणाणी किं जाणई सेयं, असेयं पुण्य पापगं**'' अर्थात् अज्ञानी श्रेय, अश्रेय, पुण्य, पापों को जानता है। जो जानता ही नहीं है उसको क्या मानेगा ? हितकर से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है और अहितकर से कैसे बचेगा ? इसीलिए कहा है– **'पटमं णाणं तदो दया'** अर्थात् पहले ज्ञान उसके बाद दया / अहिंसा /सेवा है। अज्ञानी स्वयं के विकास को न जान सकता है, न पर के विनाश को जान सकता है। अतः 'Knowdge is suprime light' अंधा जिस प्रकार प्रकाश, अंधेरा, सफेद, काला, छोटा, मोटा आदि कुछ नहीं देख पाता है, उसीप्रकार अविवेकी भी धर्म–अधर्म, कर्तव्य–अकर्तव्य आदि कुछ नहीं जान पाता है। सत्य ही कहा है– **'णाणं पयासणं'** अर्थात् ज्ञान प्रकाशक है बोधक है। जिसप्रकार प्रकाश स्वयं प्रकाशी होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान–ज्योति स्वयं के साथ–2 आत्म

विश्वास, सदाचार, धैर्य आदि को भी प्रकाशित करता है। विवेक से अन्य गुणों को भी बल मिलता है क्योंकि Knowledge is power अर्थात् ज्ञान शक्ति है। मनुष्य का विवेक ही विश्व के अन्य जीवों से मनुष्य को श्रेष्ठ / ज्येष्ठ सिद्ध करता है। यथार्थ से **'ज्ञान विहिनं पशुः'** है। मानव पशुता से निवृत्त होकर विवेक के द्वारा भगवत् गुणों में प्रवृत्त होता है। इसीलिए उपनिषद में कहा है– **'नहि ज्ञानेन सदृश्यं पवित्रमिह विद्यते'** अर्थात् ज्ञान के समान विश्व में अन्य कोई वस्तु पवित्र नहीं है। ज्ञान स्वयं पवित्र है और ज्ञान को प्राप्त करने वाला भी पवित्र हो जाता है। ज्ञान से जीव अमृत बन जाता है। इसीलिए कहा है– **'ज्ञानामृतं भोजनं'** अर्थात् भौतिक भोजन से जीव अजर–अमर पद को प्राप्त नहीं कर सकता है परन्तु ज्ञान रूप अमृत से वह समस्त रोगों से दूर होकर पूर्ण स्वस्थ रूप परमात्मा अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

सदाचार

लक्ष्य का विश्वास तथा परिज्ञान के बाद भी जब तक लक्ष्याभिमुखी क्रिया / यात्रा नहीं होती तब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार जीवन विकास का विश्वास एवं विवेक होने पर भी जब तक जीवन में सदाचार नहीं आयेगा तब तक जीवन विकास पूर्ण रूप से नहीं होगा। कुछ धार्मिक रूढ़िवादी लोग केवल धार्मिक रीति रिवाज / बाह्य क्रियाकाण्ड को ही चारित्र / सदाचार कर्तव्य मान लेते हैं। इस संकीर्णता के कारण ही स्वर्ग / मोक्ष चाहने वाले ऐसे लोगों को स्वर्ग / मोक्ष मिलना तो दूर इह लोक को भी नरक बना देते हैं। सत्य से ओत–प्रोत आचरण जो सत्व / जीवों का हितकर हो वही यथार्थ से सदाचार है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, क्षमा, मृदुता, सरलता, पवित्रता, संतोष, त्याग, दान, सेवा, परोपकार, प्रमाणिकतादि चारित्र है / सदाचार है। रहन–सहन, खान–पान, उठना–बैठना, वेश–भूषा, आदान–प्रदान, बोल–चाल, स्वागत–अभिनंदन आदि भी शालीन, नम्र, सभ्य, सुसंस्कृत होना चाहिए।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है– **'चारित्रं खलु धम्मो'** अर्थात् चारित्र / सदाचार ही निश्चय से धर्म है। सत् विश्वास, खान–पान आदि तो चारित्र के एक–2 अंग / अंश हैं परन्तु धर्म का समग्र स्वरूप है सच्चारित्र **'आचारो प्रथमः धर्मः'** कहकर चारित्र को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। सदाचार के बिना मनुष्य के अन्यान्य गुण दुर्गुण के समान हो जाते हैं। जैसा कि रावण की विद्या, बुद्धि, राजनीति,

सत्ता, सम्पत्ति आदि सदाचार के बिना उसके विनाश के लिए कारण बने। सदाचार के बिना व्यक्ति अन्यान्य गुणों से युक्त होता हुआ भी दुर्जन होता है। उसे कोई आदर नहीं देता है। जैसे कि मणि से युक्त सर्प विषाक्त होने के कारण स्नेह भाजन नहीं बनता है। महात्मा गाँधी चमत्कारक बुद्धि, प्रतिभा, शारीरिक शक्ति, सत्ता से रहित होते हुए भी सदाचार के कारण महात्मा, महामानव, प्रतिभा प्रभावशाली बने। कुछ खलनायक, तानाशाही, चोर डाकू में बुद्धि, बल, साहस होते हुए भी सदाचार से रहित होने के कारण पतित जीवन जीते हैं। कुछ लोग पूजा–पाठ, तीर्थयात्रा, दान, अध्ययन, व्रत, उपवासादि करते हुए भी कूट–कपट, घमण्ड, क्रोध, शोषण, अनादर भाव आदि चारित्र हीनता के कारण उनका व्यक्तित्व ओछा रहता है। सदाचार के कारण व्यक्ति की प्रतिष्ठा घरमें, समाज में, व्यापार में, लेन–देन में सर्वत्र रहती है।

समयानुबद्धता-कर्तव्यनिष्ठता

भगवान् महावीरने गौतम गणधर से कहा था **'गोमय पमायण एकसमय ण मुक्कउ'** अर्थात् हे गौतम! प्रमाद से एक समय भी व्यतीत मत करो। **'पमाय एवं मरणं अपमाय एवं अमयं'** अर्थात् प्रमाद ही मरण है एवं अप्रमाद ही अमृत है। आचार्य उमास्वामी ने भी कहा है **'प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा'** अर्थात् प्रमाद / असावधानता / अजागरुकता के योग से प्राणों का वियोग करना हिंसा है। क्रोध, मान, वेदना, स्त्री कथा, चोर कथा, राजनीति कथा, भोजन कथा, परनिंदा, अनावश्यक गप्प आदि से युक्त होना प्रमाद है। इसी प्रमाद से युक्त होकर अपने नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक कर्तव्य में ढिलाई बर्तना / आलस्य करना / टालमटोल करना हिंसा है, पाप है, मृत्यु है, विनाश का कारण है। इससे विपरीत होकर / अप्रमत्त होकर सजग होकर / जागरुक होकर नैतिक आदि कर्तव्यों को निष्ठापूर्वक करना पुण्य है, धर्म है, कर्त्तव्य है / अमृत है, अहिंसा है। इसीलिए कहा है– 'Work is worship' अर्थात् जो अपना कर्त्तव्य पवित्र, निःस्वार्थ भाव से समुचित रीति से समयानुकूल करता है वह पूजा है, प्रार्थना है, आराधना है, धर्म है। जो लोग रुढिवशात् पूजा–पाठ आदि यत् किंचित् कर लेते हैं परन्तु अपना अन्य नैतिक, धार्मिक कर्तव्य नहीं करते हुए भी स्वयं को धार्मिक मान लेते हैं वे स्वयं को धोखा देते हैं।

जीवन प्रत्येक समय में किये गये कर्तव्यों का समूह है। जो समय व्यतीत हो

जाता है उसे किसी भी उपाय से / मूल्य से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। व्यक्तिगत कार्य से भी अधिक सामूहिक कार्य में समयानुबद्धता / कर्तव्यनिष्ठा का पालन प्रत्येक को करना चाहिए। क्योंकि इसमें एक की गलती के कारण अनेकों को क्षति पहुँचती है। इसमें तो प्रमुख व्यक्तियों को ओर अधिक सतर्क रहना चाहिए। क्योंकि उनके कारण पूरे कार्यक्रम प्रभावित होते हैं। जैसाकि राजनैतिक सभा में मुख्य अतिथि, मुख्य वक्ता आदि की देरी से उपस्थिति हजारों व्यक्तियों को क्षति पहुँचती है। कुछ व्यक्ति तो जानबूझकर विशेष समस्या न होने पर भी निर्धारित कार्यक्रम में देरी से जायेंगे। उनकी मानसिकता यह है कि निर्धारित समय पर पहुँचने पर उनका महत्व घट जायेगा। लोग सोचेंगे इनके पास महत्वपूर्ण कार्यक्रम नहीं है इसीलिए ये समय पर आ गये। कुछ कार्यकर्ता तो समय पर आने वाले मुख्य अतिथि आदि को अन्यत्र गुप्तरूप में रखते हैं और देरी से कार्यक्रम में ले आते हैं। वे सोचते हैं इससे कार्यक्रम महत्वपूर्ण समझा जायेगा। इससे भारतीयों की सड़ी–गली, गंदी मानसिकता की एक झलक मिलती है। इससे क्या क्षति होती। है इसका सामान्य गणित यहाँ प्रस्तुत करते हैं। मान लो कि एक कार्यक्रम में 1000 व्यक्ति एक मुख्य वक्ता के कारण 1 घंटे बैठे रहे इससे 1000 व्यक्तियों के 1000 घंटे अनावश्यक नष्ट हुए। 1 व्यक्ति 1 दिन में 8 घंटे परिश्रम करता है इसीलिए 1000 घंटे अर्थात् 1000/8= 125 दिन का परिश्रम बेकार होगा। इतने परिश्रम से जो उत्पादन होता है, रचनात्मक कार्य होता है उसकी क्षति हुई। इसप्रकार छोटे–बड़े कार्यक्रम में देरी की अवधि के अनुसार जान लेना चाहिए। विदेशों में सामूहिक कार्यक्रम में देरी से जाना अपराध मानते हैं। और भारतीय लोग इसे शान–मान–अभिमान मानते हैं।

अनावश्यक देरी से कार्य प्रारम्भ करते हैं और कार्य भी अव्यवस्थित करते हैं। किसी कार्य की पूर्व से ही योजना बनायेंगे, चर्चा करेंगे परन्तु समय पर कार्य व्यवस्थित नहीं करेंगे। अनावश्यक समय बर्बाद करते हैं और कहते फिरेंगे 'मेरे पास तो समय नहीं है मैं बहुत व्यस्त हूँ, मेरे पास बहुत काम है।' जो एक भी कार्य असमय में अव्यवस्थित करता है उसके अनेक कार्य भी इसी प्रकार के हो जाते हैं। जिस प्रकार शरीर का एक भी अंग अस्वस्थ हो जाता है तो शरीर के अन्यान्य अंग अवयव भी अस्वस्थ हो जाते हैं उसी प्रकार एक कार्य में अव्यवस्था होने पर अनेक कार्यो में अव्यवस्था होती है। कार्य में अव्यवस्था का अर्थ है जीवन–

विकास में अव्यवस्था।

धैर्य साहस

'साहसे वसति लक्ष्मी' अर्थात् साहस / धैर्य में लक्ष्मी, उन्नति, सम्पत्ति वास करती है। जिसके पास धैर्य नहीं है वह किसी भी कार्य को पूर्ण नहीं कर सकता है। अनेक वैज्ञानिकों के आविष्कार, दुर्गम यात्राएं, खोज, कार्य की सफलता, युद्ध में विजय आदि में धैर्य का योगदान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तक कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए भी धैर्य की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। मोक्ष मार्ग में जो संकट, कष्ट, परिषह, उपसर्ग आदि आते हैं उन्हें भी चुनौती देने के लिए उन्हें परास्त करने के लिए सहनशीलता / धैर्य चाहिए। साहस के बिना व्यक्ति उन्नति के पथ पर आगे बढ़ नहीं पायेगा और धैर्यवान व्यक्ति विघ्न आने पर भी सफल होकर ही रहेगा। कहा भी है–

प्रारम्भ्यते न खलु विघ्न भयेन नीचैः
प्रारम्भ्य विघ्न विष्टता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्यः श्रोतमजना न परित्यजन्ति॥27॥

(भर्तृ हरि नीति शतक)

अधम श्रेणी के लोग विघ्न के भय से कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, परन्तु विघ्न उपस्थित हो जाने पर उसे छोड़ देते हैं, उत्तम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ करने के बाद विघ्नों से बराबर सताये जाने पर भी वे कार्य को बीच में छोड़ते नहीं, उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं।

जो दृढ़ संकल्प हीन, पुरुषार्थ विहीन, धैर्यहीन, आलस्य परायण लोग होते हैं, वे भविष्य कालीन सम्भाव्य, काल्पनिक विघ्नों के भय से साहसहीन होकर कोई कार्य ही प्रारम्भ नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्ति जीवन रूपी संग्राम में कभी भी विजय लक्ष्मी को वरण नहीं कर पाते। इसी प्रकार के व्यक्ति निम्न श्रेणी के होते हैं। कुछ मध्यम श्रेणी के व्यक्ति कार्य को प्रारम्भ कर लेते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति, बाधा, विघ्नों के उपस्थित होने पर धैर्य, पुरूषार्थ विहीन होकर उस कर्म को मध्य में ही छोड़ देते हैं। जो अदम्य, धैर्यवान, साहसी, कर्त्तव्यनिष्ठ, पुरूषार्थवादी होते हैं, वे जिस कार्य को विचार-विमर्श करके प्रारम्भ करते हैं, उस कर्म को पूर्ण करके ही विराम लेते हैं भले उस कार्य में अनेक बाधा, विघ्न, उपसर्ग, परिषह

आदि क्यों न आवें। अपने पुरूषार्थ को तब तक गतिशील रखते हैं जब तक आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्ण नहीं होता है। ऐसे उन्नत श्रेणी के महान् पुरूषार्थवान् पुरूष ही स्व पर के लिये, देश, राष्ट्र समाज की उन्नति के लिए वरदान स्वरूप होते हैं। नीतिकारों ने कहा है–

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति॥

उद्योगशील पुरूषसिह विजयलक्ष्मी को वरण करता है। परन्तु जो पुरूषार्थ विहीन का पुरुष होते हैं, वे केवल भाग्य के ही आश्रिय होकर बैठे रहते हैं।

अभी तक राजनैतिक, धार्मिक, ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में जिन्होंने उन्नति की है वे केवल भाग्य के ऊपर ही अवलम्बितन नहीं हुए बल्कि अदम्य साहस, धैर्य, पुरूषार्थ का सहारा लेकर आगे बढ़े हैं।

'जिस बात को पूर्ण करने का निश्चय किया है उसे क्षणिक असफलता के कारण मत छोड़ो' (शेक्सपीयर), सम्पूर्ण वेदान्त दो शब्दों में सीमित है. 'सहो और बचो' (एपिक्टेटस), 'निरन्तर प्रयत्न और दृढ़विश्वास से कठिनाईयाँ भी लजा जाती हैं और असंभव भी संभव में परिवर्तित हो जाता है।' (जेरेमी कोलीयर), 'साहस मत छोड़ो! आशावान को साथ देने के लिए सैंकडों अवसर और क्रान्तियाँ आती हैं। शर्त यह है कि जुटे रहें! व्यक्ति जितना बुद्धिमान होगा उतना ही साहसी होगा। एक ही बात याद रखो– साहस बनाए रखो।'

तैमूर के बारे में कहते हैं कि जब शत्रुओं ने उसका पीछा न छोड़ा तो उसने किसी भवन में आश्रय लिया। एकान्त और विचारों में लीन उसकी दृष्टि एक चींटी पर पड़ी जो अनाज का एक दाना घसीटे लिये जा रही थी, 69 प्रयत्नों के बाद भी उसने साहस न छोड़ा। दीवार के कोने से भारी दाने के साथ–2 वह स्वयं भी गिर पड़ती मगर 70वीं बार वह सफल होकर रही। तैमूर का टूटा हुआ साहस पुनः बंध गया और उसे पुनः विजय का विश्वास हो गया।

यदि फ्रैंकलिन पीयर्स वस्तुतः स्थिर प्रकृति का न होता तो वह कदापि 'संयुक्त राष्ट्र' का प्रेसीडेन्ट न होता। आरम्भ में वह वकील के रूप में असफल रहा और इससे उसके मन पर आघात पहुँचा। प्रायः ऐसे अवसरों पर लोग साहस त्याग बैठते हैं किन्तु उसने कहा– 999 बार असफल रहकर भी मैं फिर एक बार उसी कार्य को करने के लिए तत्पर हूँ। भला ऐसे महान् संकल्प के आगे कौन

सी कठिनाई ठहर सकती है! ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ भी असंभव नहीं।

एक खान के स्वामी का अनुमान था कि खान में से सोना निकलेगा। उसने मील भर लंबी सुरंग खुदवायी जिस पर एक लाख की रकम व्यय हो गयी। डेढ़ साल की मेहनत भी रास न आयी और काम बंद कर देना पड़ा। तब किसी दूसरी कम्पनी ने वही काम हाथ में लिया और सुरंग की गज भर आगे खुदायी करने पर स्वर्ण धातु हाथ लग गयी। स्मरण रखें संभव है, जीवन का सोना भी गजभर आगे ही पड़ा हुआ हो।

जॉन फिच बड़ा ही निर्धन व्यक्ति था। मित्र परिचित भी कम ही थे। लोग उपहास उड़ाते और उसे विक्षिप्त मानते। बड़े लोग भी उसे निरुत्साहित ही करते और धक्के देते। किन्तु फिच अपने मित्रों के साथ लगा रहा और एक दिन उसने वाष्पीय नौका डेलवेयर में चला कर दिखा दी, जो प्रवाह के साथ 8 मील और विपरीत दिशा में 6 मील प्रति घंटे की गति से दौड़ सकती थी।

प्रत्येक कार्य की सफलता के लिए कुछ समयावधि, ऊर्जा आदि की आवश्यकता पड़ती है। उसके बिना कार्य पूर्ण नहीं हो सकता है। जिस प्रकार का बीज बोते ही फल नहीं आ जाते हैं, बर्तन में चावल डालते ही भात नहीं बन जाता है, हजारों कदम का रास्ता प्रथम कदम में ही पूरा नहीं हो जाता है। 10 चोट से टूटने वाला पत्थर प्रथम चोट में ही नहीं टूट जाता है, परन्तु कार्यारम्भ तो हो गया है। प्रथम समय में ही, मध्यम में ही यह सोचकर कि कार्य तो पूरा नहीं हुआ है साहस छोड़ दिया जायेगा और पुरूषार्थ हीन हो जायेंगे तो आने वाली सफलता मध्य में ही हमसे विमुख हो जायेगी। इसीलिए कहा है–

धीरे-धीरे रे मनुआ धीरे-2 सब कुछ होय।
माली सिंचे सो घड़ा ऋतु आये फल होय॥

क्रमबद्ध व्यवस्थित कार्य प्रणाली

क्रमबद्ध व्यवस्थित / सत्य प्रकृति के शोध–बोध को विज्ञान कहते हैं। इसके कारण ही आधुनिक विज्ञानने केवल 300–400 वर्षों की कम अवधि में बैलगाड़ी से जेट विमानतक, स्लेट से कम्प्यूटर तक यात्रा / उन्नति कर ली। जिस प्रकार विशाल भवन निर्माण के लिए पहले नक्शा / मोडल बनाते हैं, पुनः नीव से प्रारम्भ करके शिखर तक निर्माण करते हैं तथा रंग रोगन सजावट करते हैं उसी प्रकार जीवन निर्माण का पहले नक्शा / मोडल / योजना / उद्देश्य बनाना

चाहिए पुन नींव / श्री गणेश / मंगलाचरण से प्रारम्भ कर शिखर तक पूर्ण करना चाहिए तथा विभिन्न गुण रूपी अलंकारों से अलंकृत कर चकाचौंध करना चाहिए। जिस प्रकार उच्च शिक्षा प्राप्त करने का इच्छुक विद्यार्थी अक्षर ज्ञान से बढ़ता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है उसी प्रकार अन्यान्य कार्यों में भी जान लेना चाहिए। अक्षरज्ञान, भाषाज्ञान आदि के बिना यदि कोई सामान्य विद्यार्थी बड़े–2 ग्रंथ पढ़ना चाहेगा तो उसका क्रम जिस प्रकार अयोग्य है उसी प्रकार प्राथमिक मूलभूत कार्य बिना जो आगे का कार्य करना चाहता है वह भी अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता है। जो व्यक्ति अपना एक भी कार्य अव्यवस्थित रूप से करता है वह अपने भाव को माने अव्यवस्थित कर देता है। प्रकारान्तर से / मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहें तो भाव में अव्यवस्था होने से कार्य में अव्यवस्था होती है। मैं अनेक व्यक्तियों को जानता हूँ जो कार्य यद्वा–तद्वा करने के कारण उस काम में अधिक शक्ति, साधन, लगाते हैं तो भी कार्य व्यवस्थित नहीं कर पाते हैं। परन्तु मेरा स्वयं का अनुभव है कि मैं प्रत्येक कार्य को समयानुबद्ध, क्रमानुसार, व्यवस्थित करता हूँ इसीलिए मेरा प्रत्येक कार्य उत्तम होता है। मेरा यह भी अनुभव है कि एक कार्य अच्छा होने के बाद तत् सम्बन्धी अनुभव साहस प्राप्त होता है जिसके बल पर अन्य कार्य भी सहजता से होते हैं। जो विद्यार्थी एक उत्तर अच्छा दे देता है उसका साहस उत्साह बढ़ जाता है जिससे वह अन्य प्रश्नों के उत्तर देने के लिए तत्पर होता है। इसके विपरीत जो विद्यार्थी प्रथम उत्तर के देने में भूल कर लेता है उसका आत्मविश्वास, साहस, विश्वास डगमगा जाता है और जो उत्तर याद भी था उसे भी भूल जाता है। अतः प्रत्येक कार्य व्यवस्थित करना चाहिए। जिससे हमें सफलता मिले और आगे की सफलता के लिए कारण बनें। कार्यों की सफलता के लिए जीवन का विकास है तो असफलताओं में जीवन का विनाश है।

एकाग्रनिष्ठता / समर्पित भाव

सूर्य किरणें लेन्स के द्वारा जब कागज में केन्द्रीभूत हो जाती है तब अग्नि प्रकट हो जाती है। इस ही प्रकार जब हमारी समस्त शक्तियाँ / प्रवृत्तियाँ केन्द्रीभूत होकर एक दिशा में प्रवृत्त होंगी तब हमारे कार्य सहज रूप में सफल होंगे, हमारी कल्पनाओं का कायाकल्प होगा, हमारे स्वप्न साकार होंगे, हमारी संभावनाये यथार्थ बनेंगी। तपस्वियों की साधना की सिद्धि, वैज्ञानिकों की उपलब्धि, मंत्रों की शक्ति,

ध्यान की सिद्धि इस एकाग्रनिष्ठता में ही निहित है। शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है कि जिस मंत्र की सिद्धि एक व्यक्ति को वर्षो तक नहीं हुई उसकी सिद्धि एक अन्य व्यक्ति को उसकी एकाग्रता के कारण क्षणभर में हो गयी। एडीसन अपने प्रयोग में इतना तन्मय हो जाता था कि अनेक बार खाना–पीना भी भूल जाता था इसके बल पर ही तो उन्होंने बल्ब से लेकर 1113 वैज्ञानिक उपकरणों का निर्माण कर डाला। अर्जुन, एकलव्य से लेकर आईन्स्टीन तक की सफलता का राज इसमें छिपा हुआ है। मैं अनेक विद्यार्थियों को जानता हूँ जो कि घंटों पढ़ते हैं परन्तु ज्ञान के नाम पर शून्य के बराबर हैं क्योंकि वे विषय को एकाग्रचित्त से विधिवत् आत्मसात् नहीं करते हैं। वे शिक्षक के पढ़ाते समय अन्यमनस्क रहेंगे, गप्प लगायेंगे, पढ़ाये हुए विषय को दोहरायेंगे नहीं, अपनी भाषा एवं भावों में विषय को परिवर्तित नहीं करेंगे और Not book में लिखेंगे नहीं। मूल पुस्तक न पढ़कर कुंजी का सहारा लेंगे। पहले सत्र में न पढ़कर परीक्षा के समय दिन–रात तोता रटन्त लगायेंगे पूर्ण विषय को न पढ़कर मध्य में महत्वपूर्ण विषय को रटेंगे। इसी प्रकार अन्यान्य विषय में जान लेना चाहिए।

भाव की पवित्रता

उन्नत मानसं यस्य तस्य भाग्यं समुन्नतम्।
नोन्नत मानसं यस्य तस्य भाग्यं असमुन्नतम्॥

अर्थात् जिसका मन / भाव उन्नत / उदात्त / पवित्र है उसका भाग्य भी उन्नत है और इससे विपरीत जिसका मन संकीर्ण / अनुदात्त / अपवित्र है उसका भाग्य भी छोटा है, खोटा है। जीव की प्रत्येक क्रिया–प्रतिक्रिया भले वह अच्छी हो, बुरी हो भाव से प्रेरित होती है। भाव से जन्म लेती है। उत्तम भाव से उत्तम कार्य होंगे और निकृष्ट भाव से निकृष्ट कार्य होंगे। अभी तक देश–विदेश में जितने महापुरुष हुए हैं वे सब उच्च भाव से हुए हैं और भविष्य में भी होंगे। जैनों के तीर्थंकर, हिन्दुओं के अवतारी पुरुष, ईसामसीह, बुद्ध, ऋषि–मुनि, महात्मा, सामाजिक कार्यकर्ता, समाजसुधारक, वैज्ञानिक इत्यादि में भावों की उदारता पायी जाती है। इसके बिना अन्य गुण भी दुर्गुण हो जाते हैं। जिस प्रकार अच्छा स्वादिष्ट भोजन भी यदि जल जाता है या वासी हो जाता है या दुर्गन्धयुक्त सड़ा गला कीड़े युक्त हो जाता है। तब वह भोजन अखाद्य, कुखाद्य हो जाता है। उसी प्रकार पवित्र भावनाओं के बिना सर्वगुणों की दुर्दशा हो जाती है। इस महानतम् गुण के बिना जीव अपनी अन्यान्य उपलब्धियों का प्रयोग स्व–पर अकल्याण के लिए करता

है। कहा है–

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधो विपरीत बुद्धि ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अनुदार / अपवित्र भावना वाले खलु व्यक्ति विद्या से वाद–विवाद करते हैं, धन से अहंकारी बन जाते हैं शक्ति से दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हैं इसके विपरीत साधु पवित्र भाव वाले विद्या से ज्ञान प्राप्त करते हैं, धन से दान करते हैं और शक्ति से दूसरों की रक्षा करते हैं। पवित्र भावनओं में दया, करुणा, परोपकार, सेवा, दान, त्याग, विनम्रता, सरलता, क्षमा, सहिष्णुता, कोमलता आदि सब गुण गर्भित हैं।

स्वावलम्बन-स्वतन्त्रता

''पराधीन सपनहुँ सुख नाहीं' अर्थात् परावलम्बन में, परतन्त्रता में सर्वथा सुख नहीं है। मोक्ष / स्वाधीनता / स्वतन्त्रता / मुक्ति में अक्षय, अनन्तज्ञान, सुख, वीर्य, शक्ति (अव्याबाधत्व) चारित्र, सूक्ष्मत्व, दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि अनंत गुण पाये जाते हैं। इसीलिए मोक्ष ही जीवन विकास के अन्तिम लक्ष्य / सोपान / प्राप्तव्य है। इस अवस्था में जीव समग्रता से पूर्णतः समस्त परावलम्बन / बंधनों से रहित होकर स्वयं में ही पूर्ण समर्थ / अवलम्बित / निर्भर हो जाता है अर्थात् सुख, ज्ञान, वीर्य आदि का सम्बन्ध स्वावलम्बन में निहित है अर्थात् जीव जितने–2 अंश में आत्म निर्भर होता जायेगा वह उतने–2 अंशों में विकास करता जायेगा। और उतने–2 अंशों में ज्ञानादि को प्राप्त करता जायेगा। इससे विपरीत जितने–2 अंश में परनिर्भर होता जायेगा उतने–2 अंशों में विनाश को करता जायेगा और उतने–2 अंशों में ज्ञानादि से वंचित होता जायेगा। यह सिद्धान्त संसार के समस्त कार्य के लिए एवं मुक्ति के समस्त कार्यों के लिए लागू होता है इसीलिए तो साधु संत प्रायः अपना संपुर्ण कर्त्तव्य स्वयं ही करते हैं। जैनधर्म के साधु–संत तो पूर्ण स्वावलम्बी होते हैं। शास्त्रों में यह पाया जाता है जैन धर्म में कुछ साधु जो राजा–महाराजा, चक्रवर्ती भी थे; वे भी साधु अवस्था में नग्न पैदल ही चलते हैं, दाढ़ी, मूँछ एवं सिर के बाल हाथ से उखाड़कर ही फेंक देते हैं, खडे होकर हाथ की अंजुलि से ही आहार करते हैं इन सबके पीछे स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरशीलता, आदि प्रेरक गुण कार्य करते हैं। यही आंशिक स्वावलम्बन ही बढ़ता हुआ पूर्ण स्वावलम्बन अर्थात् मोक्ष के लिए कारण बनता है। कहावत है– ''Self help is best help'' अर्थात् आत्म सहायता, आत्मनिर्भरता सबसे

बड़ी अच्छी सहायता है। जो स्वयं आत्म निर्भरशील होकर कार्य करता है उसके लिए अन्यान्य व्यक्ति व प्रकृति भी सहायता करती है। इसीलिए कहावत है– Who go forward one stap God helps him hundred stapes. अर्थात् जो स्वावलम्बन से एक कदम आगे बढ़ता है भगवान् उसे सौ कदम आगे बढ़ाते हैं।

मैं अनेक विद्यार्थी एवं व्यक्तियों को जानता हूँ जो छोटे–2 कार्यों को भी ठीक से नहीं कर पाते हैं भले ही उनकी लौकिक शिक्षा स्नातकोत्तर भी क्यों न हो। इसमें एक मुख्य कारण है स्वावलम्बन की कमी। क्योंकि वे केवल पुस्तक पढ़कर पुस्तकीय ज्ञान से स्नातकोत्तर तो उत्तीर्ण कर लेते हैं। परन्तु वे अपने दैनिक कर्त्तव्यों को स्वयं नहीं करते हैं। जैसे–स्नान करना, कपड़े धोना, कपड़े सुखाना, स्कूल बैग तैयार करना, यूनीफार्म पहिनना, अध्ययन कक्ष को सजाना (साफ करना) स्वयं पानी लाकर पीना, जूठे बर्तन को जगह पर रखना, गृह कार्य करना तथा धर्म एवं संस्कृति कार्य में सक्रिय भाग नहीं लेना, माता–पिता एवं गुरूजनों की सेवा नहीं करना आदि–आदि। आधुनिक विज्ञान ने केवल 300-400 वर्षों में चमत्कारिक प्रगति की है। उसका मूल कारण है– प्रयोग धर्मिता। प्रयोगधर्मिता के कारण ही विज्ञान ने नये–2 सिद्धान्त अपकरण प्राप्त किए हैं। क्योंकि प्रयोग के माध्यम से विभिन्न गुण–दोषों का परिज्ञान होता है। दक्षता प्राप्त होती है। सक्रियता बढ़ती है। इसीप्रकार जो व्यक्ति प्रत्येक कार्य स्वयं करता है उसमें सक्रियता /योग्यता दक्षता / बुद्धिमत्ता बढ़ जाती है। महात्मा गाँधी में जो प्रभावशाली व्यक्तित्व था उसका मूल कारण है सत्य, अहिंसा को जीवन में अपनाना एवं कर्तव्य को स्वयं ही करना। महात्मा गाँधी सूत कातने से लेकर वस्त्र धोना, खाना बनाना, गेहूँ पीसना, शौचालय साफ करना, झाड़ू लगाना आदि–आदि कार्य स्वयं करते थे। उनके सम्पर्क में आने वाले बड़े–2 राजनीतिज्ञ, साहित्यकार, उद्योगपति उनके समान स्वावलम्बी, सदाचारी, कर्तव्यनिष्ठ एवं सादा जीवन जीने वाले बनते थे। स्व कर्तव्य को पूजा भाव से करना चाहिए। स्ववलम्बन से शारीरिक लाभ भी है। इसमें सम्पूर्ण शरीर का व्यायाम हो जाता है। जिसमें से अनेक रोगों से बच जाते हैं। शारीरिक व्यायाम करने वाले को मोटापा, बदहजमी, वायु–विकार आदि रोग नहीं होते हैं। स्वावलम्बन से कार्य करने पर कार्य व्यवस्थित होता है और आत्म संतुष्टि मिलती है। इसमें अनावश्यक धन भी व्यय नहीं होता है। इसके साथ–2 दूसरों की अपेक्षा, दूसरों के मन के अनुसार चलना, अनावश्यक समय बर्बाद करना आदि हानियों से भी बचाव हो जाता है।

संकल्प शक्ति

'ते मे मन संकल्पमस्तु' अर्थात् मेरा मन शिव / मंगल संकल्प वाला हो। उन्नत / श्रेष्ठ संकल्प शक्ति से प्रेरित होकर जीव श्रेष्ठ कार्य करता है। इसीलिए कहा है– **'यादृशी भावना यस्यसिद्धिर्भवति तादृशी'** अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है उसकी सिद्धि उसी प्रकार की होती है। कहावत है– 'As you think so you become' अर्थात् जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। मन में संकल्प शक्ति जागृत होने पर वह शक्ति शरीरस्थ विभिन्न ग्रंथियों के अंगोपांग को, स्नायुतंत्र को, इंद्रियों को प्रेरित करती है, ऊर्जा से भर देती है, जिससे वे कार्य करने में सक्षम हो जाते हैं। संकल्पशक्ति से रहित जीव प्राण रहित शरीर के समान है। जिस प्रकार प्राण से रहित शरीर कार्य करने में अक्षम्य होता है उसी प्रकार संकल्प शक्ति से रहित जीव शव के समान बन जाता है। जिस प्रकार विद्युत शक्ति विद्युत उपकरण, यंत्रों को क्रियाशील बनाती है उसी प्रकार संकल्प शक्ति जीव को उद्यमशील / क्रियाशील / पुरूषार्थी बनाती है।

मैं अनेक व्यक्तियों को जानता हूँ जिनमें कोई संकल्प शक्ति ही नहीं होती है। वे इससे रहित जैसे सूखे पत्ते हवा में इधर उधर भटकते रहते हैं वैसे वे भी इधर–उधर भटकते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति न स्वयं का विकास कर सकते हैं न दूसरों को प्रभावित कर सकते हैं। संकल्प शक्ति के कारण गौतम बुद्ध बने, महावीर तीर्थंकर बने, महात्मा गाँधी स्वतन्त्रता संग्राम के महानायक बने, सुभाषचंद्र नेताजी बने, सिकन्दर, नेपोलियन, विजयी बने, अब्राहिम लिंकन, महान् राष्ट्रपति बने, ईश्वरचंद्र, विद्यासागर और राहुल सांस्कृतायन महापंडित इस संकल्पशक्ति के कारण बने। वैज्ञानिक शोध–बोध आविष्कार में भी संकल्पशक्ति का योगदान महत्वपूर्ण है।

जो व्यक्ति उपर्युक्त गुणों से रहित होकर भी विकास के दिव्य–स्वप्न देखता रहता है उसका स्वप्न कभी भी साकार नहीं हो सकता है। जो बेईमानी, झूठ, कूट–कपट, धोखाधड़ी, लूटपाट चोरी–डकैती, हिंसा, बलात्कार आदि के माध्यम से विकास करना–चाहता है तो मानो हलाहल विषपान करके स्वस्थ दीर्घजीवन जीने की इच्छा करता है। सुदीर्घ भूतकाल साक्षी है कि जिसने भी इन उपायों से विकास करने का कार्यक्रम किया उसका विनाश ही हुआ। यथा–मयदानव, हिरण्य–काश्यप, तारकासुर, रावण, कंस, हिटलर, आदि–आदि। बाह्यवैभव से रहित व्यक्ति भी उपर्युक्त गुणों से महान् बन सकता है। यथा– कबीरदास अब्राहिमलिंकन, महात्मागाँधी, लाल बहादुर शास्त्री, मदर टेरेसा आदि।

2 दैव (कर्म) सिद्धान्त

विश्व में विभिन्न वैचित्र्यपूर्ण जीवन दृष्टिगोचर होते हैं। द्रव्य दृष्टि से अखिल जीव जगत् सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोदिया (वायरस) से लेकर पूर्ण विकसित मनुष्य तक ही नहीं परन्तु अनंत ज्ञान सम्पन्न अरिहन्त सिद्ध भगवान भी एक समान है। यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि द्रव्य की अपेक्षा तथा जातीय अपेक्षा सम्पूर्ण अनंतान्त जीव एक समान होने पर भी उसमें आकार–प्रकार, शक्ति, बुद्धि, ज्ञान, आचार–विचार में जो विभिन्नता परिलक्षित होती है उसका कारण क्या है ? बिना कारण से क्या उनमें यह वैचित्र्यपूर्ण अन्तर हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं; बिना विभिन्न प्रकार कारणों से विभिन्न कार्य होना असंभव है। आचार्य कुन्द–कुन्द देव नियमसार में संसारी जीव मे जो विभिन्न प्रकार आचार–विचार परिलक्षित होता है। उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि–

''णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लब्धी।''

अनेक प्रकार के जीव हैं एवं अनेक–अनेक प्रकार के कर्म या दैव हैं। इसलिए उनके स्वस्वदैवानुसार उनकी लब्धि भिन्न–भिन्न प्रकार होती है।

मनुष्य गति एक होने पर भी प्रत्येक मनुष्य का आकार, प्रकार, बुद्धि, वैभव, स्वास्थ्य अलग–अलग होता है। इतना ही नहीं एक ही परिवार में एक ही माता–पिता से उत्पन्न होने वाली अनेक संतान के शरीर, आरोग्य, आचार–विचार, बुद्धि, वर्ण प्रायः वैषम्य रहते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि एक ही व्यक्ति का हाथ व एक अवयव सबल होता है तो अन्य अवयव दुर्बल होता है। बाल्यावस्था में कोई जड़मति भोंदू रहता है तो वही युवावस्था में तीक्ष्ण बुद्धिशाली हो जाता है। पुनः वृद्धावस्था में स्मरण शक्ति से रहित हो जाता है। अन्य कोई व्यक्ति उपरोक्त व्यक्ति से विपरीत भी हो सकता है। एक व्यक्ति बाल्यावस्था में उदण्ड, उच्छृंखल होता है तो वही किशोर या युवावस्था में गंभीर धर्मात्मा हो जाता है। वही वृद्धावस्था में विपरीत परिणमन भी कर लेता है। उपरोक्त वैचित्र्यपूर्ण परिणमन का कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। उसका सटीक व संक्षिप्त उत्तर यह है कि उसका दैव एवं पुरूषार्थ ही मूल कारण है।

गति की अपेक्षा तिर्यञ्च गति एक ही गति है। उनमें भी फिर एकेन्द्रिय, द्विन्द्रियादि जातीय अपेक्षा पाँच उत्तर भेद हो जाते हैं। एकेन्द्रिय जाति में पुनः साधारण एवं

प्रत्येक उपभेद हैं। उनमें फिर अनेक अवान्तर उपभेद भी होते हैं। उदाहरण के तौर पर प्रत्येक एकेन्द्रिय जीव को ग्रहण कीजिए। उनमें फिर (1) वनस्पतिकायिक, (2) पृथ्वीकायिक, (3) जलकायिक, (4) वायु कायिक, (5) अग्निकायिक रूप से पाँच प्रभेद हैं। वनस्पतिकायिक के दस लाख (1000000) कुल कोटि योनि हैं। योनि की अपेक्षा वनस्पतिकायिक के दस लाख (1000000) कोटि पुनः अवान्तर भेद हो जाते हैं। उनमें से पुनः उदाहरण के तौर पर आम तथा आमवृक्ष को लीजिए। उनमें भी अनेक भेद–प्रभेद हैं– लंगड़ा, दशहरी, सीपिया, बीजू, बारहमासी, तोतिया, शुकूल आदि। एक ही पीपल (पीपर) पेड़ के प्रत्येक पत्र का आकार–प्रकार प्रायः एक प्रकार नहीं होता, भिन्न–भिन्न होता है। उपरोक्त वैचित्र्यपूर्ण विभिन्नता का कारण अपना–अपना स्वयोग्यपूर्ण उपार्जित कर्म /दैव है।

यह अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है कि कभी–कभी इच्छित अभिलषित कार्य के विरुद्ध अनिच्छित, अनभिलषित कार्य हो जाता है। जैसे नीरोग, स्वस्थ रहने के इच्छुक एवं योग्य आहार–विहार करनेवालों को भी रोग हठात् आ घेरता है। प्रायः कोई भी जीव दुःखी, निर्धन होने के लिए अभिलाषा नहीं करता है। परन्तु अधिकांश मनुष्य, रोगी, दुःखी एवं निर्धन होते हैं। इसका कारण पूर्व उपार्जित प्रबल दैविक शक्ति है। जैनाचार्यों ने कहा भी है–

अबुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।

अबुद्धिपूर्वक सम्पादित कार्य की अपेक्षा से इष्ट–अनिष्ट कार्य अपने पूर्वोपार्जित दैव से हुए हैं, ऐसा जानना चाहिए।

कुछ विशिष्ट प्रबल शक्ति सम्पन्न दैवयोग से कुछ अनिच्छित कार्य भी होता है। उस समय में प्रबल प्रचण्ड दैवशक्ति के सामने पुरूषार्थ की शक्ति अकिञ्चित्कर हो जाती है।

कम्मंचिंणति सवसा तस्सुदयाम्मि उ परवसो होन्ति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगंलस परवसो ततो॥

(विशेषावश्यक)

कर्म व दैव को सम्पादन करने में जीव स्वतन्त्र है। कर्म के फल भोगने पर जीव स्वतन्त्र नहीं है बल्कि कर्माधीन है। जैसे–वृक्ष आरोहण जीव स्वतंत्र स्वेच्छापूर्वक करता है परन्तु देवात् असावधानी से पेड़ से फिसल कर गिर जाये तो गिरते समय वह परतंत्र हो जाता है अर्थात् उस समय में उसका पुरूषार्थ विशेषकर कार्यकर नहीं हो पाता है। गीता में भी कर्मयोगी नारायण श्रीकृष्ण इस कर्म सिद्धान्त

का प्रतिपादन करते हुये धनुर्धर अर्जुन को अग्र प्रकार उद्‌बोधन करते हैं–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥47॥

कर्म में ही तुझे अधिकार है उससे उत्पन्न होने वाले अनेक फलों में कदापि नहीं। गोस्वामी तुलसीदास भी हिन्दी साहित्य की अमर कृति रामचरित मानस में कहते हैं कि–

विश्व प्रधान कर्मकरि राखा।
जो जैसे करहि सो तस फल चाखा॥

पुराण प्रसिद्ध, इतिहास प्रसिद्ध अनेक महापुरूष हुये हैं जिनका जन्म गरीब, अशिक्षित परिवार में हुआ है परन्तु वे अपने अदम्य साहस, निष्ठा एवं पुरूषार्थ के माध्यम से महान् बने हैं। महान् बनने में दैव की अपेक्षा अपने पुरूषार्थ का योगदान अधिक रहा है। जैनाचार्यों ने कहा भी है–

बुद्धि पूर्वाऽपेक्षायामिष्ठानिष्ठ स्वपौरूषात्।

जो कार्य बुद्धि पूर्वक किये जाते हैं उस अपेक्षा से इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरूषार्थ से हुये हैं ऐसा जानना चाहिए।

जो कार्य अनुकूल हो या प्रतिकूल हो यदि वह अतर्कितोपस्थित है अर्थात् उस कार्य करने का विचार रहित (अबुद्धिपूर्वक) है तो ऐसी स्थिति में जो कार्य होता है उसको भाग्यकृत कहेंगे। बुद्धिपूर्वक जो भी कार्य है और उसमें जो सफलता मिलती है, उस समय वहाँ पुरूषार्थ प्रधान एवं दैव गौण माना जाता है। इस स्थिति में जो कार्य होता है उसको पुरूषार्थ से हुआ कहेंगे। इस तरह अबुद्धिपूर्वक जीव को जो दुःखादिक होते हैं वे दैव की प्रधानता से होते हैं तथा बुद्धिपूर्वक जो लाभ–अलाभ आदि जीव को होते हैं पुरूषार्थ की प्रधानता से होते हैं। इस प्रकार दोनों की प्रधानता एवं गौणता से कार्य बनता है। अनुकूल दैव और अनुकूल पुरूषार्थ, प्रतिकूल दैव और प्रतिकूल पुरूषार्थ होने पर भी एक मुख्य और एक गौण रहता है।

संसारी जीवों की विभिन्न वैचित्र्यपूर्ण परिस्थिति, भावना, बुद्धि आदि को जानने के लिए कर्म सिद्धान्त को जानना केवल आवश्यक ही नहीं है परन्तु अपरिहार्य भी है। कर्म सिद्धान्त में मनोविज्ञान जीव–विज्ञान, आनुवांशिकी, जीनस, D.N.A., R.N.A. आदि सिद्धान्त केवल गर्भित नहीं है परन्तु इन सिद्धान्तों के कारण तथा इन सिद्धान्तों से भी यह श्रेष्ठ तथा निभ्रान्त है। कर्म सिद्धान्त को विशेष जानने के लिए जिज्ञासु मेरी 'कर्म का दार्शनिक वैज्ञानिक विश्लेषण', 'भाग्य एवं पुरूषार्थ', 'निमित्त उपादान मीमांसा', 'पुण्य पाप मीमांसा' कृतियों का अध्ययन करें।

3 अनेकान्त एवं स्याद्वाद की दृष्टि से भाग्य एवं पुरूषार्थ

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकल नय विलसितानां विरोधमथनं नामाम्यनेकान्तम्॥

विश्व की समस्त वस्तु अनेकान्त स्वरूप होने के कारण उसको प्रतिपादन करने वाली वाणी भी अनेकान्त स्वरूप ही होनी चाहिए। यह सिद्धान्त नहीं है कि प्रतिपादन करने वाली वाणी भी अनेकान्त स्वरूप है इस कारण से वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त का अर्थ **'अनेक अन्ताः धर्माः यस्यासौ स अनेकान्तः'** (अनेक+अन्त) जिसमें अनेक अंत अर्थात् धर्म पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं। समस्त वस्तुऐं अनेकान्त स्वरूप हैं इसीलिए वस्तु अनेकान्तमय है। Who have many characteristic that is called 'Anekant' that means substances. जिनके अनेक धर्म (स्वभाव) हैं, उसको अनेकान्त कहते हैं। वस्तु में यह अनेक धर्मात्मकपना किसी ने कभी प्रवेश नहीं करा दिया है किन्तु यह वस्तु का स्वरूप होने से अनादि से स्वतः सिद्ध है।

''यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्'' यदि अनेक धर्मरूपता वस्तु को स्वयं पसन्द है (उसमें हैं, वस्तु स्वयं राजी है) तो हम बीच में अराजी (नहीं माननेवाले) कौन? जो अस्तिरूप है वह अनेकान्त्मक है एवं वही वस्तु अर्थ क्रियाकारी बन सकती है–

जं वत्थु अणेयत तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहुधम्म जुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए॥

(स्वा. कीर्ति.)

जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही नियम से कार्यकारी है, क्योंकि लोक में बहुत धर्मयुक्त पदार्थ ही देखा जाता है। **''सिद्धि अनेकान्तात्''** किसी भी कार्य की सिद्धि अनेकान्त से ही हो सकती है।

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है। अनंत धर्मात्मक प्रमेय को (ज्ञेय) प्रमाण का विषय करने के लिए, ज्ञान करने के लिए) अनंत प्रमेयत्वपना (ज्ञानपना) आवश्यक है। यदि अनंतज्ञान है तो एक समय समस्त

ज्ञेय पदार्थों को एकसाथ जान सकते हैं। क्योंकि केवलज्ञान में अनंत ज्ञायकत्वपना है। इसकारण अनेक धर्मात्मक वस्तुयें युगपत् ज्ञान का विषय हो जाती हैं। किन्तु ज्ञात पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिए जिसका माध्यम (Medium) लिया जाता है उस शब्द रूप वचनों में अनंत धर्मों की युगपत् प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं होने के कारण वह वस्तु का आंशिक प्रतिपादन करता है। जैसे किसी व्यक्ति के पास 10 मीटर वस्त्र है, उस व्यक्ति ने उस वस्त्र को नापना चाहा, यदि उसके पास 10 मीटर वाला मापदण्ड हो तो वह एकसाथ वस्त्र को माप सकता है; किन्तु उसके पास एक मीटर वाला मापदण्ड है, इस कारण उसको 10 बार मापना पड़ता है वह 1 या 2 माप करते हुए यह नहीं सोचता है कि जो मैं वर्तमान में एक मीटर परिणामरूप वस्त्र माप कर रहा हूँ; वस्त्र उतना नहीं है किन्तु वह जानता है कि वस्त्र जितना लंबा है उतना ही है किन्तु मैं वर्तमान में एक मीटर लंबे वस्त्र को माप रहा हूँ। इस प्रकार वस्तु पूर्णरूप से ज्ञान का विषय होने पर भी पूर्णरूप से वचनों के अगोचर है। अनेकान्तात्मक वस्तु को निर्दिष्ट / यथार्थ रूप से कथन करने वाले कथन को (भाषा को) अनेकान्तवाद, अनेकधर्मवाद या स्याद्वाद कहते हैं। **'अनेकान्तात्मक अर्थ कथनं स्याद्वादः'** अनेकान्तात्मक– अनेक धर्म (स्वभाव) विशिष्ट वस्तु का कथन करना स्याद्वाद है।

The Meaning of the word 'Anekantvada' the word 'Anekantvada' consists of three words; 'Aneak' 'Anta' And 'vada'. Aneka means Many 'Anta' Signifies attributes and 'vada' means description. The whole word means the description of many fold attributes.

स्याद्वाद– (स्यात् + वाद) स्यात्–किसी निश्चित अपेक्षा से– अनेक धर्म समूह को विषय करने वाला है। इस शब्द द्वारा अनेकान्त और सम्यक् एकांत का बोध कराने वाला वाद – कथन है। स्याद्वाद वस्तु के यथार्थ रूप का निश्चय करने के कारण स्याद्वाद का अर्थ यथार्थ कथन है। Syadvada Consists of two words; 'syat' and 'vada', This syat suggests. The existence of infinte attributes although the expression asserts about a particular attributs. 'Syat' suggests the form of a particular stand point the true reveals it self in a particular form other viewpoint the same substartum appears to possess other attributs.

वस्तु अनेक स्वभावात्मक होने के कारण पूर्णरूप से वचनों के अगोचर होने पर भी वस्तु को सर्व अवक्तव्य कहना भी अस्याद्वाद है। क्योंकि इस दशा में 'अवक्तव्य' यह वचन भी नहीं बोल सकेंगे। जैसेकि मौनव्रती 'मैं मौनव्रती हूँ' यह शब्द भी नहीं बोल सकता है। और भी जैसे कोई व्यक्ति कह रहा है कि मैं आपकी बात नहीं सुन रहा हूँ क्योंकि 'मैं गाढ़ निद्रा में सोया हूँ' इस प्रकार वस्तु अवक्तव्य नहीं है। उसका कथन गौण, मुख्य रूप से होता है। **'अर्पितनार्पितसिद्धेः' धर्मान्तर विविक्षा अर्पित प्राधान्यमर्पित अनेकान्तकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशात् यस्य कस्यचित् धर्मस्य विवक्षया आर्पित प्राधन्यम् अर्थस्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्।** गौण और मुख्य विवक्षा से एक ही वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म सिद्ध है। इसप्रकार अनेक धर्म भी प्रयोजनवश अनेकान्त वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है या विविक्षित जिस धर्म की प्रधानता मिलती है उसे अर्पित कहते हैं। **'तद्विपरीतमनर्पितम्'। प्रयोजनभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवति इत्युपसर्जनी भूतमनर्पितमित्युच्यते'** जिन धर्मों के विद्यमान रहने पर भी विवक्षा नहीं होती, उन्हें 'अनर्पित' तहते हैं।

Substance are endowed with an infinite number of attributes. When we describe a subrstances we can do so by adopting one point of view at a time so giving prominice to a few attributs. However it does not mean that other atributer are of no purpose to us at that time.

वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। इस युग में प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक सिद्धान्त (Scientific theory) के अनुसार विश्लेषण किया जाता है। परीक्षा प्रधानी व्यक्ति वैज्ञानिक कार्यकारण भाव के अनुसार प्रत्येक विषय की परीक्षा करके उसको ग्रहण करता है। वर्तमान युग के अंध आधुनिकता रूपी रंग के चश्मा धारण करने वाले व्यक्ति आधुनिकता में जो कुछ हो रहा है; भले वह नैतिक पतन का कारण हो, किंवा आध्यात्मिकता का प्रध्वंसक हो, अहिंसा का घातक हो, जनगण का अहितकारी हो, विश्व का विश्वंसक हो, प्रेम–भातृत्व, वात्सल्य का लोप करने वाला हो, समाज में, धर्म में, साधर्मी में भेद डालने वाला हो तो भी उसको सहर्ष ग्रहण करता है। उसका यह कार्य आपाततः रमणीय होने पर भी उसका फल विपाकफल भक्षण के समान विपाक मधुर नहीं होगा। और **'विषकुम्भ पयोमुख'** के समान अंतः निःस्सार एवं फल भयावह होगा। वर्तमान वैज्ञानिक जगत् को

वास्तविक प्रकाश प्रदान करने वाले, महान् समन्वयवादी, गणितज्ञ, निष्पक्षी, महामना आइन्स्टीन के 'सापेक्षवाद' (The theory of Relativity)) अनेकान्त / स्याद्वाद का ही अनुकरण है।

The analogue in modern science of the theory of Syadvada is the Enstein's famous theory of Relativity.

Relativity describes the fact that the old laws of physics were not universally true; they are true only in the limited sphre of inacaurate observation; they were merely relative. What the mathematicians have done is to derive formulas which shall be universally true for all conditions of space and matter and motions and time.

According to Eninstein, we can know the truth, but not real truth or absolute truth. We can only know the relative truth. The real truth the knowen only on the universal observer. Universal observer of Einstein is none else but the Almighty [Sarvagyna omniscient] with infenite powers of knowdge and bliss.

आइनस्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार हम सब जो जानते हैं वह संपूर्ण सत्य (Absolute truth) नहीं है किन्तु सापेक्षिक सत्य है (Realattive truth)। संपूर्ण सत्य सर्वदर्शी, सर्वज्ञ के द्वारा ही जाना जाता है। प्राचीन पदार्थ विज्ञान का जो सिद्धान्त है वह वास्तविक सत्य नहीं है, बहुत कुछ क्षेत्रों में आंशिक सत्य है। जो सिद्धान्त गणित के हिसाब से प्रदेश (Space) पदार्थ (Matter) क्रिया (Motions) एवं समय (Time) के सापेक्ष से है वह सत्य है। वह प्रत्येक वस्तु का क्रिया गति, दिशा, स्थिति, आकार आदि सापेक्ष मानते हैं।

If we want to know are the theories of scince absolut truths? No they are not Scince is a scries of approximation to the truth at no stage do we claim to have reached finally : any theory is liable to revision in the light to new facts.

विज्ञान संपूर्ण सत्य नहीं है। यह सत्य की खोज का एक क्रम है। किसी भी परिस्थिति में हम नहीं कह सकते हैं कि विज्ञान पूर्णतः सत्य है। दर्शनशास्त्र के अवलम्बन से विज्ञान खोज (Discover) करता है। दर्शनशास्त्र का विषय मूर्तिक–अमूर्तिक दोनों पदार्थ हैं, जबकि विज्ञान का विषय केवल मूर्तिक है।

The Scripture of Philosophy described all without form and possessed of form substances when the scince described only possessed of form substances. So it is true that philosophy is the father of the scince.

दर्शन विज्ञान का जनक है। दर्शन का क्षेत्र व्यापक एवं विज्ञान का व्याप्त है। इस प्रकार महान्, गंभीर जिनका अमोघ चिन्ह (विजयपताका) स्याद्वाद है ऐसा अनेकांत के मंगल स्मरण से जो मैं अनादिकालीन पर समयरूपी दैवराज्य में परिभ्रमण कर रहा हूँ वहाँ से दैव एवं पुरूषार्थ के द्वारा स्वसमय रूपी पुरुषार्थ राज्य में स्वतन्त्रता से निवास करूँ ऐसी मेरी भावना है। यथा–

श्रीमत्परम गम्भीर स्याद्वादमोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोत्यनाथस्य, शासनं जिन शासनम्॥

अनादिकाल से अनेकान्त स्वरूपी आत्मा पर परम पुरूषार्थ के अवलम्बन से रहित होकर अशुभ–शुभ पुरूषार्थ के कारण दैवरूपी चक्रवर्ती के साम्राज्य में पराधीन होकर आकुलता का अनुभव कर रहा है। अत्यन्त सुदूर अनादिकालीन से परमपुरूषार्थ के अभाव से दैव की अधीनता में रहते–2 एवं उसका ही कार्य करते–2 अपने को भूल बैठा है। यथा–

सुद परिचिदाणु भूदा सव्वस्स वि काम भोग बंध कहा।
एयत्तस्सुवलम्भो णवरि ण सुलभो विहतस्स॥

The discourse relating to sence enjoyment and karmic bondage is heard understood and experienced by all the mudane souls. But realisation of absoulute one-ness with its own nature free from attechment is not easy of attainment.

लोगों का काम–भोग–विषयक–बंध की कथा सुनने में, परिचय में एवं अनुभव में बार–2 आयी हुई है इसीलिए सुलभ है; किन्तु केवल बिन आत्मा का एकपना होना कभी न सुना न परिचय में आया और न अनुभव में आया। इसलिए एक यही सुलभ नहीं है। वर्तमान में हम दैव एवं पुरुषार्थ का वैभव एवं शक्ति का पर्यालोचन करेंगे जिनका साम्राज्य क्रमशः – संसार एवं मोक्ष है। यथा–

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुखं सुखं वागतम्॥

कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भ परिग्रह ग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥ (262)

जीव के पूर्वभव में जिस पाप या पुण्य का संचय किया वह आत्मा दैव है। वह दैव दो प्रकार का है– (1) पाप दैव (2) पुण्य दैव। इन दोनों दैवों का सृष्टि करने वाला जो कर्ता है वह यथाक्रम से पहला–असत् पुरूषार्थ, दूसरा–शुभ पुरूषार्थ। शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य। Virtuous activity is the cause of merit (Punya) and wicked activity is the cause of demerit (Papa) कर्मकी उदीरणा से अर्थात् पाप दैव एवं पुण्य दैव को शासनकाल में दोनों दैव का अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है अर्थात् शुभ पुरूषार्थ को करता है एवं पाप पुरूषार्थ का त्याग करता है वह भी प्रशंसा के योग्य है। किन्तु जो (3) परम पुरूषार्थी दोनों दैव को ही नष्ट करने के लिए समस्त दैव का (अनुग्रह एवं कृतज्ञता आरम्भ व परिग्रह रूपी पराधीनता को) त्याग करके परम पुरूषार्थरूपी स्वाधीनता स्वराज्य में रमण करता है वह तो सज्जन पुरूषों के लिए भी अभिवंदनीय है।

यह महा पराक्रमी धूर्त, मूर्ख (जड़) दैव विभिन्न राज्य में विभिन्न नाम धारण करके पुरूषों के ऊपर शासन करता है। यथा–

विधि सृष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेया कर्मवेधसः ॥

(महा.पु.)

विधिः, सृष्टा, विधाता, दैव, कर्म, पुरकृतम, ईश्वर, कर्म आदि अनेक नामों को धारण करने वाला यह जड़ दैव है। यह दैव मूर्ख, जड़ होकर भी संसार में एक जगाधिपशासन करने की शक्ति अशिक्षित, आलसी, पुरूषार्थ विमुख पुरूषों से प्राप्त किया है। यथा–

जीवं परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गल परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥

(स.सा. 80)

Material molecules are trans-formed in to karmas by reason of the mundane souls though activity; similarly the mundane soul is transformed (In to its impure thought activity) by reason of operation of karmic matter.

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं। पुद्गल कर्म को निमित्त मात्र कर जीव भी परिणमन करता है। इसीप्रकार दैव को शक्ति प्रदान करने वाला पुरूष (परम पुरूषार्थ हीन पुरूष) है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरूष है। जब पुरूष उसको शक्ति प्रदान करता है तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है। यथा–

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारूहिरादि भावे उदररग्गि संजुत्तो ॥

As the food taken by a man is modifed in many way in the form of flesh. blood, etc. by reason of the digestive heat of the human system. That like the molecules of the karmic mater modified in many in the form of eight kinds of karma by impure thought activity of the mundane soul.

जैसे पुरूष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ अनेक–2 प्रकार माँस, रस, रुधिर आदि भाव रूप में परिणमता है उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके आठ प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप से परिणमन करता है।

जिस प्रकार अति तुच्छ धूलि, मंत्र, शक्ति युक्त होकर अनेक आश्चर्यजनक कार्य करती है, उसी प्रकार कर्मरूपी धूलि भी राग–द्वेष शक्ति से युक्त होकर अनेक आश्चर्यजनक कार्य करती है। जिसप्रकार हल्दी एवं चूना मिलकर लाल रंग तैयार हो जाता है और उस अवस्था में दोनों की पृथक्–2 सत्ता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होती है उसी प्रकार पुरूष एवं दैव की अवस्था होती है। यथा–

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनु पापमलिन,
खलो राहुर्भास्वदृश शतकरा क्रान्त भुवनम्।
स्फुरन्तर्भास्वन्त किल गिलति हा कष्टम परः,
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान् ॥

जिसप्रकार एक हजार (किरण) प्रकाश से विश्व पर आक्रमण करनेवाला अतिशय प्रतापी सूर्य भी समय आने पर (ग्रहण के समय) जिसका स्थान अज्ञात है, जो शरीर से रहित है, जो पाप से मलीन है उसे दुष्ट राहु कवलित करता

है; तो भी प्रतापशाली सूर्य राहु के आक्रमण से आत्मरक्षा नहीं कर सकता है। उसीप्रकार कितना भी बलवान् पुरुष क्यों न हो, किन्तु वह भी काल से अपनी रक्षा नहीं कर सकता है। ठीक है– समयानुसार दैव उदय आने पर दूसरा कौन बलवान होगा ? जिसप्रकार कुटिनी हस्तिनी की भोग इच्छारूपी कुपुरूषार्थ के कारण महाप्रतापशाली स्वाधीन विवरण करनेवाला गजराज भी जंगली दुष्ट पापियों के द्वारा पराधीन होकर उन्हीं को अपना स्वामी एवं पालन पोषण करने वाला एवं सर्वेसर्वा मानकर उन्हीं की सेवा करने लग जाता है, उसी प्रकार पुरूष भी अपने कुपुरुषार्थ के कारण दैव के अधीन होकर दैव को ही सर्वेसर्वा मान बैठता है। यथा–

दइवमेव परं मण्णेधिप्पउरुसमणत्थयं।
एसो सालसमुतुंगो कण्णो हणइ संगरे॥

मैं केवल दैव (भाग्य) को ही उत्तम मानता हूँ। निरर्थक पुरूषार्थ को धिक्कार हो। देखो कि किले के समान ऊँचा जो वह कर्ण नामा राजा सो युद्ध में मारा गया। जो एकान्त भाग्य से ही कार्य सिद्धि मानते हैं उनका भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

दैवादेव सिद्धिश्चेद दैव पौरूषतः कथम्।
दैवतश्चेदनिर्मोक्ष पौरूषं निष्फलं भवेत्॥

दैवादेव अर्थ सिद्धिः चेत् (तदा) पौरूषतः दैव कथं (स्यात्) देवतः चेत् अनिमोक्षः पौरूष (च) निष्फल भवेत्।

दैव (भाग्य) से ही एकान्ततः कार्य की सिद्धि (सुख–दुःख, ज्ञान–अज्ञान, कार्य की सफलता–निष्फलता) अंगीकार किया जाये तो प्रशन यह उठता है कि भाग्य कैसा बना ? क्योंकि **''स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्''**

"What ever karms you have performed previously, you experience their fruits whether good or evil."

इस जीव पूर्व में जो सुख या दुःख पुरूषार्थ किये थे उसके फलस्वरुप वह पुरूषार्थ का परिपाक रूप शुभ–अशुभ रूप भाग्य को उपभोग करता है अर्थात् भूत का पुरूषार्थ वर्तमान का भाग्य एवं वर्तमान का पुरूषार्थ, भविष्यत् का भाग्यरूप से परिणमन करता है। जैसे– बीज से वृक्ष है, वृक्ष से बीज की तरह। जैसा बोयेंगे वैसा पायेंगे। As we sow, so we reap.

पुरूषार्थ एवं भाग्य में कारण कार्य भाव-

साधारणौ सकल जन्तुषु वृद्धिनाशौ,
जन्मान्तरार्जित शुभाशुभ कर्म योगात्।
धीमान् स यः सुगति साधन वृद्धिनाशः,
तद्वयत्याद्विगत धीर परोऽभ्यधायी॥

समस्त प्राणियों में समान रूप से पूर्व जन्म में संचित किये गये पुण्य एवं पाप भाग्य के उदय से आयु, शरीर एवं धन सम्पति आदि की वृद्धि एवं उनका नाश होता है। यदि इस प्रकार कहा जाये कि दैव की सिद्धि पूर्व दैव से ही होती है। अर्थात् पहले–2 के भाग्य से ही आगे का भाग्य बनता चला जाता है तब तो इस प्रकार से भाग्य की परम्परा चलते रहने से कभी भी किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा और जो इस भाग्य परंपरा से चलता रहता है वह **''तद्वयत्ययाद्विगत धीर परोऽभ्याधायी''**– दुर्गत (भाग्य) के साधनभूत वृद्धि नाश को (पुरूषार्थ को) अपनाने से बुद्धिहीन कहा जाता है जो अभव्य एवं दुरानुदूर भव्य है। जिन को कभी भी मोक्ष जाना नहीं है वह अनादि पूर्व परंपरा दैव से अनन्त परम्परा दैव के आधीन रहकर भाग्य की अधीनता से स्वाधीन कभी भी नहीं हो सकता है। किन्तु इससे विपरीत **''धीमान् स यः सुगति साधन वृद्धि नाशः''** सुगति अर्थात् मोक्ष की सिद्धि करने और वृद्धि एवं भाग्य का नाश करने के लिए पुरूषार्थ को अपनाता है वह बुद्धिमान् है, भव्य पुरूषार्थी है। उसका भाग्य अनादि एवं शांत है। यदि दैव से ही सब कुछ मान लिया जावेगा, तो भाग्य की उत्पत्ति रोकने के लिए जो पुरूषार्थ किया जाता है वह भी निष्फल हो जायेगा। यदि पुरूषार्थ की सफलता में निमित्त है ऐसा कहा जाये तो पुरूषार्थ से ही भाग्य का विनाश होता है। इससे मोक्ष की प्रसिद्धि होने से पुरूषार्थ सफलित हो जायेगा सो इसप्रकार का कथन **''दैवादेव सर्वः भवति इति या प्रतिज्ञा सा हीयते''** देव से ही सबकुछ होता है, इस कथन का निवारण हो जाता है। क्योंकि इस कथन से पुरूषार्थ भी कार्यकारी साबित हो जाता है। यदि ऐसा कोई भाग्य की कृतज्ञता प्रदर्शन करने के लिए मानेगा तो मोक्ष का कारणभूत जो पुरूषार्थ होता है वह भी तो भाग्य के कारण से होता है। अतः परम्परा से ऐसा संबंध होने से मुक्ति भी दैव के कारण है। तब तो स्याद्वाद / अनेकान्तवाद होने से सत्य हुआ जो कि वस्तु स्थिति है। क्योंकि

समादिट्ठी पुण्णं ण होई संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जहवि णियाणं ण सो कुणई॥

सम्यक्त्वी (शुभ पुरूषार्थी) का संसार भाग्य का कारण नहीं होता है। यदि वह निदान भाग्य के आधीन में रहने की इच्छा नहीं करता है तो वह भाग्य परम्परा से मोक्ष का हेतु होता है। कारण–

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेन बंधनं भवति॥

जितने अंश में सम्यक्त्वपना (पुरूषार्थ) है, उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बंधन) नहीं है और जितने अंश में मिथ्यात्व (असत पुरूषार्थ) है उसने अंश में भाग्याधीन (बन्धन) है।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखे दुःखे च षट् त्रयम्।
हितमाद्यमनुष्टेयं शेषत्रयमथाहितम्॥
तत्राप्यद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्॥

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख–दुःख में से आत्मा के लिए हितकारक होने से आदि के तीन शुभ, पुण्य एवं सुख आचरण के योग्य हैं। शेष तीन– अशुभ, पाप और दुःख अहित कारक होने से छोड़ने के योग्य हैं। शुभ, पुण्य और सुख में से शुभ पुरूषार्थ का परित्याग करना चाहिए। तब शुभ पुरूषार्थ से उत्पन्न होने वाला पुण्य / सुभाग्य एवं उसका कार्य सुख (सांसारिक सुख) ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेगें। इस प्रकार शुभ पुरूषार्थ को त्याग करके परम् पुरूषार्थ में रमण करने से अंत में पुरूष अपनी पुरूषार्थ सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

भाग्य परंपरा से मोक्ष का कारण होने से व्यवहार से (एक दृष्टि से) मोक्ष का कारण माना जाता है, किन्तु एकान्ततः भाग्य ही मोक्ष का कारण मानने पर मोक्षरूपी कार्य सिद्धि नहीं हो सकता है; क्योंकि भाग्य के अभाव रूप कारण से एवं परम पुरूषार्थ रूप कारण के सद्भाव होने पर मोक्षरूपी कार्य सिद्ध होता है। यथा–

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाण न तस्य पुनरास्त्रवः॥

He whose merit and demerit (karmas) exhoust themselves without bearing fruit, is true ascetic. He will never have the karmic inflow and will attain liberation.

जिस वीतरागी के पुण्य एवं पाप दोनों भाग्यफल दान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीण होते हैं वह योगी (पुरूषार्थी) कहा जाता है और उसके भाग्य की पराधीनता टूट जाती है, स्वाधीनता (मोक्ष) प्राप्त हो जाता है, किन्तु आस्रव (भाग्य की सृष्टि) नहीं होता है। परम पुरूषार्थी पुरूष **"प्रत्यक्षे प्रियवादिनं परोक्षं कार्य हन्तारं"** रूप संसार में इन्द्रिय जन्य सुख देने वाला एवं मोक्षरूपी कार्य को नष्ट करने वाल सुभाग्य को भी **"त्यजेत्ययेतत् बंधु विषकुम्भ पयोमुखं"** न्याय के अनुसार बाह्य के सुख एवं अन्तरंग में दुःख देने वाला मित्र काभी त्याग करता है। प्रत्यक्ष मोक्षरूपी कार्य के लिए भाग्य भी प्रतिबंधक कारण है। यथा–

कम्ममसहुं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणि सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेति॥

Know bad- karmas to be demarit and good karmas at be meirt. How can that be merit arious which causes the soul at wander in the cycle at existences.

अशुभ कर्म तो पाप स्वभाव (दुष्ट) और शुभ कर्म पुण्य स्वभाव (भद्र) है ऐसा जगत् जानता है। परन्तु वास्तविक जो पुरूष को संसार में प्रवेश कराता है वह भाग्य शुभ या उपकारी कैसे हो सकता है? अतः सिद्ध हुआ कि **"बंध हेत्वाभाव निर्जराभ्या कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्ष।"** (मोक्ष शा. 10)

Owing to the absence af the cause of bondage and with functioning of the disasociation of karmas the annihilation of karmas is liberation.

मिथ्यादर्शनादि बंध हेतुओं के अभाव से नूतन (कर्म) भाग्य का आना रूक जाता है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। निर्जरा के कारण(पुरूषार्थ से) संचित भाग्य (कर्मों का) विनाश संपूर्ण रूपसे युगपत् क्षय हो जाने से मोक्ष हो जाता है। परम पुरूषार्थ के द्वारा पुरूष समस्त विकल्पों (भाग्य) को नष्ट करके परम पुरूषार्थ में (आप में) लीन होकर अचिन्त्य अनंत सुख का अनुभव करता है। यथा–

सर्व निराकृत्य विकल्प जालं संसार कान्तार निपात हेतुं।
विविक्तमात्मनमवेक्षमाणो निलीयसे त्वं परमात्म तत्वे॥

अनादिकालीन एक छत्राधिप भाग्य का पराजय करके कृतकृत्य होकर स्वाधीन स्वराज्य में विचरण करना ही (पुरूष + अर्थ) पुरूष का प्रयोजन भूत मोक्ष ही पुरूषार्थ है, यह सिद्ध होता है। यथा–

सर्वविविक्तोतीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरूषार्थ सिद्धिमापन्नः॥

जिस समय परम पुरूषार्थ की सिद्धि को प्राप्त वह भाग्याधीन (अशुद्ध) आत्मा संपूर्ण विभावों से (शुभ–अशुभ भाग्य से) मुक्त होकर अपने सुदृढ़, निष्कम्प, चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह पुरूष कृतकृत्य (स्वाधीन) होता है।

जिस परम पुरूषार्थ द्वारा पुरूष ने अपने स्वराज्य को प्राप्त किया, उसका उपाय हुआ है भाग्य की सत्ता (आधीनता) का अस्वीकार एवं अपनी सत्ता (स्वाधीनात) का स्वीकार। अपनी सत्ता के ऊपर विश्वास, अपनी सत्ता का ज्ञान एवं अपनी सत्ता के अनुसार आचरण करना ही परम पुरूषार्थ सिद्धयुपाय है। कहा भी है–

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्वयवस्य निजतत्वं।
यतस्मादविचलनं स एव पुरूषार्थ सिद्धियुपायोऽयं॥

विपरीत श्रद्धान– भाग्य जनित पर्याय को आत्मा मान लेने (भाग्य में ही अपनी सत्ता का विश्वास) रूप विश्वास को नष्ट करने के लिए अपना स्वतत्व सत्ता का विश्वास (सम्यग्दर्शन) भाग्य से उत्पन्न पर्यायों से भिन्न अपनी शुद्ध सत्ता का यथावत् ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) एवं भाग्यकृत पर्यायों की आधीनता से मुक्ति पाकर अपने परम पुरूषाकार में स्थित हो जाना 'सम्यक्चारित्र' है। इन तीनों का समुदाय ही पुरूषार्थ सिद्धयुपाय है। यथा–

दंसणाण चारिताणि सेविदव्वाणि साहुणं णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चैव णिच्छयदो॥

Right belief. Right knowdge and right conduct should always be pursued by a saint always. Know all these theree again to be the soul it self from the real stand piont.

पुरुषार्थियों को (साधुओं के) निरन्तर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को ही पुरूषार्थ में लाने योग्य है। और वे तीनों तो वास्तव में (निश्चयनय से) एक पुरूष (आत्मा)

ही जानो।

Self reverence, Self knowdge, Self control. these three, alone read life to so Ureogn power.

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः

सम्यक्दर्शन–ज्ञान– चारित्र तीनों का समुदाय रूप परम् पुरूषार्थ ही मोक्ष का मार्ग व उपाय है।

इस प्रकार बीज अंकुर न्यायवत् अनादि के अनन्त असत् पुरूषार्थ एवं भाग्य की परम्परा को परम् पुरूषार्थ रूपी अग्नि से जलाकर भस्म कर देने के कारण जिस प्रकार अनादि परम्परा से चले आये बीज को दग्ध कर देने से फिर उस बीज से, अनंतकाल बीत जाने पर भी अंकुर नहीं हो सकता; उसी प्रकार भाग्य को दग्ध करने के बाद उस भाग्य से भाग्यांकुर (संसार) पैदा नहीं हो सकता है। यथा–

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुर।
कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर॥

जिन पुरूषों ने पुरूषार्थ के द्वारा अपना स्वाधीन राज्य प्राप्त करके अनंत सुख के भोक्ता बने, वे महापुरूष भाग्याधीन असत् पुरूषार्थी की दीनता को देखकर अत्यन्त करुणा विव्हल होकर, परम पुरूषार्थ करने के लिए आश्वासन एवं विश्वास दिलाकर संबोधन कर रहे हैं–

अयि! कथमपि मृत्वा तत्वकौतुहली सन्।
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्॥
पृथगथ विलसन्तं एवं समालोक्य येन।
त्यजसि झगति मूर्त्या साकमेकत्व मोहम्॥

अरे हे! भाग्याधीन पुरूष! तूने अनादिकाल से भाग्य की सत्ता में अपनी सत्ता मानकर उसकी अधीनता को त्यागकर अपनी स्वाधीनता का सुख कभी भी अनुभव नहीं किया, किसी भी प्रकार से, कुतूहल मात्र से भी स्वयं को स्वतन्त्र जानने की इच्छा करके अभी तू साल–दो साल को ? नहीं। एक दो माह को ? नहीं। सप्ताह– दो सप्ताह को ? नहीं। दिन दो को ? नहीं, मात्र एक मुहुर्त को (48 मिनट) लिए ही सही भाग्य से स्वाधीन हो जा। तथा भाग्य से भिन्न जिसका विलास है ऐसी अपनी आत्मा को देखकर उसके तद्रूप में अनुभव कर! ऐसा करने पर भाग्य

के साथ जो तेरे एकत्वपने का विश्वास उसको तू शीघ्र ही छोड़ देगा।

अनेकान्त रूपी अस्त्र के द्वारा परम पुरूषार्थी ने सर्वग्रासी भाग्य से जिस किस तरह मुक्ति दिलाकर यह घोषणा की थी कि जीव भाग्य से पृथक् है / स्वतंत्र है। परन्तु जिस पक्षी की चिरकाल से पिंजरे में परतन्त्र रहने के कारण सहज उड़ने की शक्ति कुंठित हो गयी है, उसे उस पिंजरे से बाहर भी निकाल दीजिए तो वह पिंजरे की ओर ही लपकता है। इसी तरह वह जीव भी अनादि से परतंत्र होने के कारण अपने मूल स्वातन्त्र्य पुरूषार्थ को भूला हुआ है और भय से भयभीत होकर कभी काल लब्धि का तो कभी नियति का तो कभी स्वभाव आदि का शरणागत होने के लिए उद्विग्न / आतुर हो उठता है और अनेकान्तमयी पुरूषार्थ को करने के लिए आलसी होकर अनेकान्त को दूषण देता है और ''अनेकान्त'' को भी अपनी पराधीनता की वृद्धि करने के लिए ''एकान्त'' बना लेता है। यथा–

आग्रही वत् निनीषति युक्तिं यत्र मतिरस्यनिविष्टा।
पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेतिनिवेशम्॥

एकान्ती (दुराग्रही) मनुष्य ने जो पक्ष निश्चि कर रखा है, वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहता है किन्तु जो अनेकान्ती(अदुराग्रही) निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहता है, वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता है और तद् अनुसार वस्तु स्वरूप का निश्चय करता है। अनेकान्तरूपी सूर्य के प्रकाश में एकान्ती उल्लू को ही नहीं दिखाई देने के कारण दिन को भी रात्रि मानता है और सूर्य की निन्दा करता है, इसीप्रकार दुर्भाग्य के कड़े शासन में जिनका सर्वस्व एवं स्वाधीनता हरण हो जाने के कारण एकान्तरूपी संसार कान्तार में निवास करने वाले एकान्ती को अनेकान्त मयी प्रकाश भी अंधकारमय (एकान्तमय) दिखाई देता है एवं एकान्तमयी अंधकार भी प्रकाशित दिखाई पड़ता है। ''**आग्रही वत् निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा**'' के अनुसार अनेकान्त को भी स्व–भाग्य की अधीनता के समय की मर्यादा की वृद्धि करनेके लिए 'एकान्त रूप से ग्रहण करता है, जिस प्रकार एक एकान्ती आध्यात्मिक वादी निम्नोक्त नीति श्लोक पढ़कर अपने आचरण को अनीतिमय करके यह लोक परलोक में दुःखी होता है। यथा–

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पंडितः॥

''**मातृवत परदारेषु यः पश्यति स पंडितः**'' अर्थात् परस्त्री को अपनी माँ की तरह

देखने वाला पंडित है। वह सोचता है बालक जिस प्रकार अपनी माँ का स्तनपान करता है, उसकी माँ के पास सोता है, आदि क्रिया करता है उसी प्रकार मैं भी पर स्त्री के साथ व्यवहार करके अपनी आसुरी इच्छओं की पूर्ति करूँगा और यदि पकड़ा जाऊँगा तो शास्त्र का प्रमाण दे दूँगा। इस प्रकार ''**परद्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत् सर्वभूतेषु**'' का अर्थ अपनी स्वार्थ सिद्धि के अनुसार संयोजना करके श्लोक को मुखस्थ कर लिया है। एक दिन अपने पड़ोसी के घर पर एक दूरग्राम से एक सुंदरी नवयुवती मेहमान आयी। उस नवयुवती को देखकर अपनी आसुरी प्रवृत्ति को वश नहीं कर पाया। वह अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिए टाइम देखने लगा। उस समय गर्मी के दिन थे। इसलिए सब कोई हवा के लिए रात्रि में बाहर सो गये। वह नवयुवती स्त्री भी बाहर सो गई। अंधेरी रात्रि में दो बजे समस्त गाँव सुनसान हो गया। किन्तु कामान्ध उल्लू को अमावस्या की रात्रि में भी नवयुवती ही दिखाई दे रही थी। सुयोग पाकर अपनी आसुरी इच्छा की पूर्ति करने लगा। जब उस स्त्री की थोड़ी नींद खुलने लगी तो वह वहाँ से भागकर छुप–छुप कर आ गया। उस स्त्री ने सोचा छाती पर हाथ रखकर में सो गई होऊँगी; सो ऐसा कुछ हो गया हो। इधर धूर्त की कामाग्नि में मानो एक बार घृत पड़ गया हो। उसकी कामाग्नि और प्रज्ज्वलित हो उठी। दूसरे दिन रात को भी पूर्व कथित दुष्ट चेष्टा करने लगा। वह स्त्री भी पूर्व रात्रि की घटना से कुछ शंकित एवं सावधान थी। उस स्त्रीने दुष्ट को पकड़ लिया एवं हल्ला करने लगी। आस–पास के लोगों ने आकर व्यभिचारी को पकड़कर बाँध लिया। राजा के दरबार का समय होने पर असत् पुरूष को लेकर दरबार में गये। असत् पुरूष का दुराचार के विषय में न्याय चला।

न्यायाधीश– (असत् पुरूषके प्रति) तुम प्रतिज्ञा / शपथ करो कि मैं जो कहूँगा सब सत्य कहूँगा।

असत् पुरूष – क्या कभी सम्यग्दृष्टि / अनेकान्तवादी असत्य कह सकता है?

न्याया.– तुमने इस प्रकार अन्याय क्यों किया?

असत्– ''मातृवत् परदारेषु यः पश्यति सः पंडितः'' के अनुसार क्या इसीप्रकार का आचरण करना अन्याय है?

न्याया.– तुमने उस स्त्री के साथ किस प्रकार का आचरण किया?

असत्– जिसप्रकार अपनी संतान अपनी माँ का स्तनपान करती है, पास में

शयनादि क्रिया करता है उसी प्रकार मैंने किया। मैंने सोचा एक नयी माँ आयी है, उसके प्रति मैं माँ का व्यवहार नहीं करूँगा तो अन्याय होगा। इसलिए मैंने मेरा कर्तव्य किया।

न्याया.– तुमने उसके साथ अब्रह्मचारीपना क्यों किया?

असत्.–

पुरसित्थयाहियालासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरिय परंपरागदा एरिसी दु सुदी॥

पुरूष वेदकर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्री वेद कर्म पुरूष की अभिलाषा करता है। यह आचार्य परंपरा से आई हुई ऐसी श्रुति है। मेरा पुरूष वेद कर्म का उदय सिर्फ बाह्य निमित्त मात्र था और वह स्त्री भी। निश्चय से अब्रह्मचारी का दोष नहीं हो सकता। क्योंकि–

धात्री बालासती नाथ पद्मिनीदलवारिवत्।
दग्धरज्जूवदाभासति भुञ्जानोऽपि न पापभाक्॥

जिसप्रकार बालक का धाय में, व्यभिचारिणी स्त्री का पुरूष में, पद्मपत्र में जलबिन्दु लिप्त न हीं होता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भोग करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं। जली हुयी रस्सी के समान पाप का भागी नहीं होता, किन्तु निर्जरा का निमित्त होता है।

उवभोगामिन्दियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणादि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जर णिमित्तं॥

सम्यग्दृष्टि जीव इंद्रियों के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्य का जो उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव जितना अधिक से अधिक गुणित क्रम से अचेतन खाद्य, अखाद्य, परधन–स्वधन, धार्मिक क्षेत्र का धन, चेतन, स्वस्त्री– परस्त्री, वेश्या आदि का सेवन करेगा उतना अधिक से अधिक गुणित क्रम से निर्जरा का निमित्त होगा। इसीलिए तो भरत चक्रवर्ती ने अन्तमुहुर्त में विज्ञान घनरूप, समयसार रूप आध्यात्म ज्योति को प्राप्त कर लिया था।

न्याया.–

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्यात्।
इत्युतानोत्पुलका वदना रागिणोप्याचरंतुः॥

आबतां समिति परता ते यतोऽद्यापि पापाः।
आत्मानात्मावगम विरहात्संति सम्यक्त्वविरक्ताः॥

"मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ। अतएव मेरा कर्मबंध कदाचित् नहीं होता ऐसा विचारकर राग के रंग से रंगा मिथ्यादृष्टि जीव दृष्टि ऊपर उठाकर तथा मुँह फुलाकर भी व्रत आचरण करें तथा समिति आदि क्रियाओं का आलम्बन करें तथापि आत्मा तथा अनात्मा के भेदविज्ञान के अभाव में तू सम्यग्दर्शन से हीन ही है। इसीलिए इस अवस्था में पापी ही है। जब महाव्रत पालन करने वाला भी उन्मत्त होकर अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर "सम्यग्दृष्टि विषय भोगते हुए भी बन्धक नहीं है" ऐसा आगम है ऐसी व्याख्या करते हुए अपने को कर्म बंध से रहित माने तो वह मिथ्यादृष्टि है और अंतरंग बहिरंग परिग्रह सहित, स्वछन्द आचरण करने वाला व्याभिचारी होकर सम्यग्दृष्टि अपने आप बनकर परस्त्री सेवन करने पर भी कर्मबंध नहीं होता, परन्तु निर्जरा होती है" इसप्रकार महान् दण्ड का पात्र बनने का वचन कह रहा है? सम्यग्दृष्टि जिस प्रकार आत्मानुभव रूपी ज्ञान तथा संसार शरीर एवं भोगों के त्याग करने रूप शक्ति रूप लक्षण के अभाव से लक्षभूत सम्यग्दर्शन तुममें नहीं। **"व्यतिक्रीर्ण वस्तु व्यावृति हेतु लक्षणं" परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं।** परस्पर मिली हुई अनेक वस्तुओं से किसी एक वस्तु को अलग करने रूप हेतु को लक्षण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण है, वह तुम को मालूम नहीं एवं तुममें पाया नहीं जाता।

तू! सम्यग्दृष्टि का लक्षण सुन–

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्तिः।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्य रूपाप्ति मुक्त्या॥
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्वतः स्व परं च।
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो राग योगात्॥

सम्यग्दृष्टि के स्वसंवितिरूप ज्ञान एवं संसार शरीर भोगों का त्याग करने रूप वैराग्य शक्ति सुनिश्चित रूप से प्राप्त होती ही है। अतएव स्वरूप की प्राप्ति तथा अपने से भिन्न जितना रागादिक जो पररूप उनके त्याग से निज वस्तु की प्राप्ति करने के लिए स्व तथा पर इनको यथार्थ में भिन्न–2 जानकर निज में ही अपनी स्थिति को बनाता है। तथा पर के संयोग से होने वाली समस्त रागादि परिणति से विरक्त होता है। किंन्तु तुममें अंदर सम्यग्दृष्टि में पाये जाने वाले सदाचार,

नैतिकाचार रूप व्यवहार लक्षण नहीं पाया जाता है; तब निश्चय में पाये जाने वाला ज्ञान वैराग्य रूप आत्मभूत लक्षण किस प्रकार संभव हो सकता है ? जो असदाचारी, स्वछन्दी, मनमाना आचरण करनेवाला कभी भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। जिसप्रकार जिसने अनंत बार मुनिव्रत धारण कर लिया, वह भी अभव्य हो सकता है, किन्तु जिसने बाह्य परिग्रह आदि बाह्यवस्तु त्याग नहीं किया वह कभी भी प्रमत्त गुणस्थानवाला मुनि नहीं हो सकता तो मोक्ष जाने की बात क्या है ? जिसका केवल बाह्य व्यवहार चारित्र ज्ञानादि है, वह अभव्य भी हो सकता है। जिसने निश्चयनय को प्राप्त कर लिया उसने व्यवहारनय को प्राप्त कर ही लिया, किन्तु जिसने व्यवहारनय को प्राप्त नहीं किया, वह कभी भी निश्चयनय को प्राप्त नहीं कर सकता। जिसप्रकार जिसने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया उसने समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया, किन्तु जिसने अभीसु मतिज्ञान को ही प्राप्त नहीं किया, वह केवलज्ञान को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? इसीप्रकार जिसने निश्चयनय को यथार्थ स्वरूप को अंगीकार जानकर उसको ही अर्थात् निश्चय श्रद्धान को अंगीकार किया है, वह मुर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण को नष्ट करता है।

निश्चयमबुद्धयमानो चो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण चरणं स बहिः करणालसोबालः॥
विषयी सुख का लालची, सुन आध्यत्मवाद।
त्याग धर्म को त्याग कर करे विषयानुराग॥

आत्मानुभव एवं सम्यग्दर्शन का तादात्मय संबंध है। सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन के पश्चात् समस्त पदार्थों का सम्यक् परिज्ञान होने के कारण अन्य वस्तु को स्वयं से पृथक् करने की सम्यक् चेष्टा करता है। इसीलिए जिस–2 अंश में अन्य विषयादि से स्वयं को पृथक् का विश्वास, ज्ञान एवं चेष्टा है उस–2 अंश में कर्म बंध नहीं है, अन्य समस्त अंश में बन्धन है। यथा–

येनांशेन सुदृष्टि स्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु राग स्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

यह हुआ अबंध का ''कार्य–कारण भाव''; इससे अन्य जितना अनध्यावसायादि है, वह सब बंध का कार्य कारण भाव है। अन्यथा संसार मोक्ष का कार्यकारण भाव लोप हो जायेगा अन्यथा सिद्ध जीव विषयानुभोगी नहीं होने के कारण पर

भी संसार में परिभ्रमण करेंगे।

यथा यथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्तवमुत्तमम्॥

As even those objects of pleasure which are easly obtainable become increasingly intolerable, in the some measure does the glorious self come in to one's enjoyment!

ज्यों–ज्यों सुलभ से प्राप्त होने वाले विषयभोग आसक्ति रूप से रूचिकर प्रतीत नहीं होते त्यों–त्यों स्वात्म संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति से वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। किन्तु इससे विपरीत मिथ्यात्व कार्य है जो कि तुम्हारा कार्य है।

असत् पुरूष– आप अनेकान्तवाद को नहीं जानते हैं इसीलिए मेरे ऊपर दोषारोपण कर रहे हैं। मैं इस कार्य को कर्तापने से नहीं किया हूँ; उस कार्य के समय में मैं ज्ञापक निमित्त रूप से उपस्थित हुआ था और निमित्त सूचना करता है कि उपादान अभी अपनी शक्ति के अनुसार परिणमन कर रहा है और उस परिणमन का कौन निवारण कर सकता है। क्योंकि–

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णाणं जिणेण णियदं जम्मं अहंवा मरणं वा॥
तं तस्स तम्मि देसे केण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कई चालेदुं इंदो वा अहजिणिंदो वा॥

जिस जीव का जिस देश और जिस काल में जिस विधि से जन्म अथवा मरण (उपलक्ष्य में अन्यान्य, समस्त कार्य) जिनेन्द्र देव ने नियत जाना है उनका उस देश और उस काल में जन्म अथवा मरण उस विधि से नियम से होता है। चाहे इंद्र हो या स्वयं जिनेन्द्र देव हों उसे चलायमान कौन कर सकता है ?

उस उपादानरूपी स्त्री के कारण उन्हीं के आंगन में रात्रि के समय में मेरा बाह्य व्यवहारिक ज्ञापक निमित्त की उपस्थिति मात्र से व्यभिचार रूप कार्य होता था। उपरोक्त प्रकार से होने का सर्वज्ञ ने नियत रूप से जाना था। इसको निवारण करने के लिए इंद्र अथवा स्वयं जिनेन्द्रदेव जो कि सर्वज्ञ एवं अनंत शक्तिवान् भी समर्थ नहीं है तो मैं उसको निवारण करने रूप अनध्यवसाय का मैं कर्ता होकर कर्म को क्यों बाँधता ? यदि यह कार्य हो भी गया तो भी अधीर, पश्चाताप, लज्जान्वित क्यों होऊँगा ? क्योंकि–

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कहूँ हो है नहीं काहे हूँगा अधीरा रे॥

इसप्रकार वीतराग भगवान् के ज्ञान में पहले से ही निश्चित रूप से नितयरूप में क्रमबद्ध पर्याय के अनुसार होने का झलका था जो होकर ही रहा। यदि पहले से झलका हुआ नहीं होता, तो यह घटना नहीं होती। अतएव वीतराग भगवान् दोषी हैं। मैं अनेकान्ती हूँ, मेरा जीवन ही अनेकान्तमय है। वर्तमान उपादान के ऊपर विचार करिए। व्यभिचार रूप क्रिया का कार्य उस स्त्री में हुआ अतः वह स्त्री हुई उपादान। ''उपादान के कार्य के समय में निमित्त स्वयमेव उपस्थित होता ही है, इस सिद्धान्त के अनुसार उस अंधकारमयी रात्रि के दो बजे के समय उस स्त्री के उपादान कार्य के ज्ञापक निमित्त होने को कोई न कोई पुरूष को उपस्थित होने का कष्ट करना पड़ता और बाद में वर्तमान में मेरी जो दशा है उसकी भी इसीप्रकार होती। यह सब नहीं हो इसीलिए मैं कष्ट करके ज्ञापक निमित्त रूप से उपस्थित हो गया था और यह सब उपादान की योग्यता के अनुसार ही हुआ। जिस प्रकार उपादान रूप मिट्टीका घड़ा रूप बनने की योग्यता होती है तब कुम्हार कदाल चाक आदि ज्ञापक उदासीन निमित्त उपस्थित हो जाते हैं और मिट्टी ही उस घट का उपादान कारण होने से कर्ता है; इसीप्रकार व्यभिचार–क्रिया में कर्ता वह स्त्री है और उसके निमित्त से मुझे जो कष्ट हुआ, समय नष्ट हुआ; इतना मैंने मेरा स्वसमय नष्ट करके आप लोगों को आध्यात्मिक–अनेकान्त–ज्योति को प्रदान किया, इन सबका दण्ड उस व्यभिचारिणी स्त्री को देना चाहिए। और मेरा स्वदार संतोष (ब्रह्मचर्य अणुव्रत) में दोष लगाकर पापिनी बनी उसके लिए मेरे से आकर क्षमा याचना करे एवं प्रायश्चित लेकर पाप का प्रक्षालन करे।

जरा वर्तमान में काल, देश विधान के अनुसार विचार अनेकान्त दृष्टि से करिये। उन्हीं के आंगन में रात्रि के समय में उस स्त्री का सोना और मेरा उपस्थित होना एवं स्त्रीलिंग पुल्लिंग संयोग रूपी विधान से कार्य होने से कथंचित् रात्रि दो बजे का दोष, कथंचित् उस आंगन का दोष, कथंचित् उस विधान का दोष है। वस्तुतः इन लोगों को सम्मलित होकर मुझे को बाँधने का उपादान इन लोगों में था अतः यह कार्य हुआ; इसीलिए यह सब लोक का दोष है। यदि निश्चय से विचार करें तो आपको यहाँ वर्तमान समय में न्यायाधीश होकर समाधान करने का उपादान रहने के कारण यह सब अनर्थ हुआ। अतः आप ही दण्ड के भागी हैं आप अपना

दोष नहीं देखकर मेरे दोष की समीक्षा कर रहे हैं। सम्यग्दृष्टि का कार्य तो अपना दोष देखना, दूसरे का दोष ढँकना और यह उपगूहन अंग है।

न्याया.–

जत्तु जदा जेण जहा जस्स च णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तस्स तहा हवे इदि वादोणियति वादो दो॥

जो जिस समय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह उस समय उससे, वैसे, उसके ही होता है। ऐसा नियम से सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते हैं; जो कि एकान्त होने से मिथ्या है। तूने एकान्त नियतिवाद का आश्रय लेकर अपना दोष नियति के ऊपर डाला है। तू विषयानन्द होने के कारण महान्ध है इसीलिए तुझको अनेकान्तमय प्रकाश में भी दिखाई नहीं दे रहा है।

अन्धादयं महान्धो विषयान्धो कृतेक्षणः।
चक्षुणान्धो न जानाति विषायान्धो न केनचित्॥

तू वीतराग सर्वज्ञता की आड़ लेकर अपने दोष छिपा रहा है। दिनकर का उदय जब होता है उल्लू को मालूम होता है कि वर्तमान रात्रि का उदय हो रहा है।

एक चंद्रमुखी नवयुवती के मुख पर जब कालिमा लग गई तब उसने दर्पण में अपना मुख देखा तो बहुत कुरूप दिखाई पड़ी। उसने सोचा कि दर्पण में मेरा चेहरा कुरूप दिखाई देना था, इसीलिए मेरे मुख पर कालिमा लगी, एवं कुरूप हो गई। इस प्रकार दिखाई देने का उपादान दर्पण में होने के कारण यह सब निमित्त अपने आप हो गया। इस प्रकार सोचकर क्रोध से दर्पण को नीचे पटक दिया तो दर्पण पैर में लगा एवं पाँव कट गया। इसप्रकार तुम्हारा न्याय है। भगवान् निश्चय से अपनी आत्मा को ही जानते, देखते हैं, तथा व्यवहार से सर्व पदार्थों को जानते, देखते हैं। आत्मा की आत्यान्तिक निर्मलता के कारण दर्पण की तरह अन्य वस्तुऐं झलकती हैं। यथा–

जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥

जिस प्रकार केवली अनंतानंत ज्ञेय को जानने मात्र से उसको शांत नहीं कर देते, उसी प्रकार त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानने मात्र से भगवान् उन सब पदार्थों का नियन्त्रण कर्ता या पर्यायों को क्रमबद्ध से बाँध करके नियत समय में भेजने (Suppaly) वाला नहीं है; अतः पदार्थ जिस पर्याय रूप परिणमन करता

है उस पर्याय का वह कर्ता होने के कारण वह ही उसका फल भोगने वाला है। यथा–

जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो।
तह जीवो विय कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णे सो॥
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिदो होदि।
तत्तो सिया अण्णो तह चेट्ठंतो दुहिदो जीवो॥
रागो दोसो मोह जीवस्सेव य अणण्णपरिणाम ॥

राग, द्वेष, मोह जीव का ही अनन्य परिणाम है। जैसे स्वर्णकारादि शिल्पी कुण्डलादि ऐसे बनाऊँगा, इस प्रकार मन में चेष्टा करते हैं तथा उस चेष्टा से वह तन्मय हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी रागादि भाव कर्म करता है और वह उस भाव कर्म से तन्मय हो जाता है। जैसे स्वर्णकारादि शिल्पी चेष्टा करते हुए नित्य दुःखी होते हैं और उस दुःख से अनन्य होते हैं, उसी प्रकार जीव हर्ष, विषाद, राग, अन्याय, व्यभिचार रूपी चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है और उस दुःख से वह अनन्य है। अतः तुमने व्यभिचार करने का विचार किया फिर उस क्रिया को किया तथा दोनों अवस्था में तन्मय होने के कारण वर्तमान तुमको दण्ड रूप में भी तन्मय होना पड़ेगा।

तुमने जो निर्जीव एवं स्थानान्तरित क्रिया से रहित काल को जो दोष लगाया, वह भी तुम्हारी धूर्तता का परिचायक है। जैसे एक व्यक्ति ने अपनी शत्रुता का प्रतिशोध लेने की इच्छा से अपने शत्रु के घर को जला दिया। जब पकड़ा गया तब वह कहता है कि मैं दोषी नहीं हूँ किन्तु आकाश दोषी है क्योंकि आकाश यदि अग्नि को अवकाश (जगह) नहीं देता तब अग्नि किस प्रकार उसका घर जला सकती थी? पक्षपात करने से तुम लोग दण्ड के पात्र हो, क्योंकि आकाश बड़ा होने के कारण उसको दण्ड नहीं दे सकते हो, मैं छोटा होने के कारण मुझे दण्ड देने का विचार कर रहे हो। ठीक है–

"सबै सहायक सबल को दुर्बल कोउ न सहाय।
पवन बुझावत दीप को अग्नि देत जलाय॥"

न्याया.– तुम्हारा कालवाद एकान्त होने से मिथ्या है।

कालो सव्वदि जाणदि कालो सव्वं विणस्सदो भूदं।
जागत्ति हु सुत्ते सुवि ण सक्कदे वंचिदुं काले॥

काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है। सोते हुए जीवों को काल ही जगाता है, ऐसे काल के ठगने में कौन समर्थ हो सकता है, इसप्रकार काल से ही सबको मानना यह कालवाद है जो एकान्त होनेसे मिथ्या है। इसप्रकार पहले तो तुमने दोष किया, फिर दोष को छिपाने के लिए मायाचार, असत्य, अनेकान्तमयी जिनवाणी का अपवाद, निर्दोषों में दोषारोपण आदि अनेक अनिगृहीत पाप किये एवं जिनधर्म पर कलंक लगाया, अतः तुम दण्ड के भाजन हो।

राजा– (अत्यन्त गंभीर एवं तेजस्वी भाषा में) अरे मूर्ख! तू यह नहीं समझता कि अहिंसा जिनका प्राण है ऐसे जैन धर्म को लोप करने वाले को नैतिकाचार को ध्वंस करने वाले को, आध्यात्मिकता के परदे के पीछे शिथिलाचार फैलाने वाले को, "Might is right" घोषणा करने वाले को धर्म के नाम पर, अधर्म के प्रचार को सच्चे धार्मिक सहन नहीं कर सकते हैं। तू यह भी नहीं समझता है कि उत्तम क्षमादि भूषण से विभूषित जैनी कायर, दीन, दुर्बल नहीं होते हैं। तू यह भी नहीं समझता कि अनेकान्तवादी कथंचित् धर्म का लोप करने वालों को सहायता भी करते हैं और कथंचित् दण्ड भी देते हैं। वे तुम्हारे जैसे 'बगुला भगत' नहीं होते हैं। वह तो राजा, गरुड व हंस के जैसा होता है। यदि एक भी जैनी है और सारा विश्व यदि धर्म के विरूद्ध उसके सम्मुख कुछ करेगा तो वह सारे विश्व के विरुद्ध भी पदक्षेप के लिए कभी पीछे नहीं हटेगा। (सिपाहियों के प्रति) इस धूर्त को काला मुँह करके गधे के ऊपर बैठाकर मेरे राज्य के बाहर कर दो; क्योंकि यदि एक भी व्यक्ति इसप्रकार धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार करने वाला राज्य में रहेगा तो अनेक भोले प्राणी कुमार्ग गामी हो जायेंगे एवं धर्म का नाम सुनकर जनगण में घृणा का भाव पैदा हो जायेगा। अन्य क्षेत्रों में अधर्म करनेवालों से धर्म क्षेत्र में अधर्म करने वालों का पाप अधिक होता है।

अन्य क्षेत्रे कृतं पापं धर्मक्षेत्रे विनश्यति।
धर्मक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

एकान्त पुरूषार्थवाद

जब इस प्रकार अनेकांतमयी अमोघ अस्त्र के द्वारा परम् पुरूषार्थीने खण्डन किया तब एकान्ती पुरूषार्थी गर्जना करके कहता है कि–

आलसड्ठो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।
थणकराक्षीरादि पाणं वा पउरूसेण विणा ण हि॥

जो आलस्य कर सहित हो तथा उद्यम करने में उत्साह रहित हो, वह कुछ भी फल नहीं भोग सकता जैसे स्तनों का दूध पीना, बिना पुरूषार्थ के कभी नहीं बन सकता इस प्रकार पुरूषार्थ से एकान्ततः सब कार्य की सिद्धि होती है ऐसा मानना पुरूषार्थवाद है जो कि एकान्त होने से मिथ्या है; क्योंकि पुरूषार्थ करते हुए भी प्रत्येक कार्य की सिद्धि नहीं देखी जाती है। यथा–

पौरूषादेव सिद्धिश्चेत् पौरूषं देवतः कथम्।
पौरूषाच्चेदमोघ स्यात्सर्व प्राणिषु पौरूषम्॥

अन्वय– चेत् पौरूषात् एव सिद्धिः तदा दैवतः पौरूषं कथं स्यात् पौरूषसात् चेत् तर्हि सर्वं प्राणिषु पौरूषं अमोघं स्यात्॥

यदि पुरुषार्थ से ही अर्थ–सिद्धि होती है ऐसा माना जाये तो दैव से जो पुरूषार्थ की सिद्धि होते हुई देखी जाती है उसका निर्वाह कैसे हो सकेगा? यदि इस प्रकार समाधान किया जायेगा कि पुरूषार्थ की सिद्धि पुरूषार्थ से ही होती है दैव से नहीं नहीं सो इस प्रकार की मान्यता में सर्व प्राणियों का पुरूषार्थ सफल ही होने का प्रसंग प्राप्त होता है। वर्तमान का पुरूषार्थ भी पूर्व देव के अनुरूप होता है।

तादृशी जायते बुद्धि व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवियतव्यता॥

जैसी भवितव्यता (भाग्य) होती है, उसी तरह की बुद्धि हो जाती है। उसीप्रकार का व्यवसाय (पुरूषार्थ) होने लगता है, सहायक भी उसी तरह के मिल जाते हैं। इस प्रकार भाग्य द्वारा बुद्धि तथा पुरूषार्थ के निर्माण की सिद्धि होती है। **"पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमई।"** भाग्य का निमित्त पाकर जीव भी भाग्य के अनुरूप परिणमन करता है। केवल भाग्य के अनुरूप परिणमन नहीं करता वरन् अनादि से जीव भाग्य की अधीनता में रहकर अपना सहज अधिकार एवं अनंत शक्ति रूप अणुजीवी गुण को भी घाति कर्म के विनिमय में भाग्य को बंधक देकर दीन हीन होकर संसार रूपी राज्य में "द्वार द्वार पर देहि देहि" करके परिभ्रमण कर रहा है। तथापि अभी तक उसको पेटभर खाने के लिए सूखी रोटी तक भी प्राप्त नहीं हुई। मिष्ठान्न, घृतान्त आदि कहाँ से प्राप्त होंगे? जिससे वह शक्तिशाली होकर भाग्य के साथ युद्ध करे। यथा–

जो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियणावच्छण्णो।
संसार समावण्णो ण विणाजदि सव्वदो सव्वं॥

पुरूष सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है किन्तु अपने भाग्य रूपी मिट्टी से आच्छादित होने के कारण संसार को प्राप्त हुआ है तथा वह सब पदार्थों को सब प्रकार से नहीं जानता है।

जब भाग्य का एक छत्राधिपति शासन चलता है तब उस समय उन्हीं के शासन के अंतर्भूत कौन ऐसे पुरूष हैं जो उनके अनुसार नहीं चले। यथा–

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलित करः किंकर इव,
स्वयं स्राष्टा सृष्टे पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुनरप्याह जगती,
महो केनाप्यस्मिन् विलसित मलङ्घ्यं हतविधे॥

जिस आदिनाथ भगवान् के गर्भ में आने के छः महीने पूर्व से ही ईन्द्र दास के समान हाथ जोड़े हुए सेवा में तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टि की रचना करने वाले थे अर्थात् कर्मभूमि की संस्थापना करने वाले थे, एवं जिनका पुत्र भरत निधियों का स्वामी अर्थात् चक्रवर्ती था, जो स्वयं चार ज्ञान के स्वामी, व्रजवृषभनाराच संहनन का धारी थे और जो महान् पुरूषार्थी थे ऐसे आदिनाथ तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी भाग्य का अनुग्रह नहीं होने के कारण बुभिक्षित होकर छः महीने तक पृथ्वी पर घूमे, यह आश्चर्य की बात है। ठीक ही है– भाग्य के राज्य में कोई भी प्राणी दुष्ट भाग्य के विधान को लाँघने में समर्थ नहीं है। ऐसा महान् पुरूषार्थी भी आहार के लिए छः महीना तक पुरूषार्थ करते हुए भी बिना भाग्य के सहयोग से कार्य सिद्धि कर नहीं पाये जो कि भाग्य के अनुग्रह से एक बेला में प्राप्त कर सकते थे, तब अन्य पुरूष की बात ही क्या?

जब भाग्य के राज्य में परिस्थिति कालीन राष्ट्रपति शासन रूप निकाचित कर्म–उदय रूपी कारण लागू रहता है तब उस शासन को कौन ऐसे पुरूष हैं जो उस कार्यक्रम में थोड़ा सा भी हेरफेर कर सकते हैं? **"उदयाबल्यां निक्षेप्तुं संक्रमयितुमुत्कर्षयितुमपकर्षयितुं चाशक्यं तन्निकाचितं नाम भवति।"** जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थायें नहीं हो सकें उसे निकाचितकरण कहते हैं। इस अवस्था में भाग्य का परिवर्तन करने में पुरूषार्थ असमर्थ होता है। जिस प्रकार एकान्ततः भाग्य से कार्य सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार एकान्ततः पुरूषार्थ से भी कार्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि **"सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्"** अर्थात् **"समग्र सामग्री से कार्य–सिद्ध होता है किन्तु एक कारण**

से नहीं' यह सिद्धान्त है, अनुभव सिद्ध है, वैज्ञानिक कार्य–कारण व्यवस्था है।

अनेकान्त से जब दैव एवं पुरूषार्थ दोनों पक्ष की जय हुई तब एक एकान्ती कहता है कि कुछ कार्य दैव से ही होते हैं और कुछ कार्य पुरूषार्थ से ही होते हैं। इसप्रकार पृथक्–2 कार्यों की अपेक्षा से भाग्य एवं पुरूषार्थ की अनेकान्त की मान्यता बन जायेगी सो यह भी एकान्त होने से मिथ्या है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वाद न्याय विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥

अन्वय – स्याद्वाद न्याय विद्विषां विरोधत उभयैकान्त्यं न। अवाच्यतैकान्ते अवाच्यं इत्यपि उक्ति न युज्यते।

स्याद्वाद रूप नीति से विरूद्ध रखने वालों का दैव और पुरूष का एकान्तपक्ष परस्पर में विरूद्ध होने से नहीं बनता है। इसी तरह इन दोनों का अवक्तव्य एकान्त पक्ष भी घटित नहीं होता है। क्योंकि इस पक्ष में 'अवाच्य' ऐसे शब्द का भी प्रयोग करना नहीं बन सकता है।

कुछ कार्य दैव से होते हैं और कुछ कार्य पुरूषार्थ से होते हैं इसप्रकार पृथक–2 कार्यों की अपेक्षा से दैव और पुरूषार्थ की मान्यता बन जायेगी, सो यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि दैव का एकान्त पक्ष और पुरूषार्थ का एकान्त पक्ष परस्पर में सर्वथा विरूद्ध पड़ता है। इसीकारण से पृथक्–2 कार्यों की अपेक्षा इन दोनों बातों को (पक्षों को) स्वीकार करना स्वयं विरुद्धादि दोषों का आह्वान करना है। बिना पुरूषार्थ के दैव लंगड़ा है और बिना दैव के पुरूषार्थ पंगु है। अतः ये दोनों पक्ष सर्वथा परस्पर की निरपेक्षता में कैसे निर्दोष रूप में संभावित हो सकते हैं क्योंकि निरपेक्ष अवस्था में इनका अस्तित्व ही नहीं बनता है। दैव पुरूषार्थ का एवं पुरूषार्थ दैव का निर्माण कर्ता है। इसी तरह इन दोनों की सर्वथा अवाच्यता स्वीकार करने पर 'ये अवाच्य' है, इसप्रकार का निर्देशात्मक वचन उसमें नहीं बन सकता है। अन्यथा अवाच्य मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसीलिए इन दोनों को यदि मान्य करना हैं तो स्याद्वाद नीति का ही अवलम्बन करना चाहिए। कारण कि उसके अलम्बन के बिना इनका सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है।

जब अनेकान्तवादी ने एकान्त भाग्य से किंवा एकान्त पुरूषार्थ से अथवा पृथक्–2 भाग्यं एवं पुरूषार्थ से कार्य सिद्धि का निषेध कर दिया तब एकान्तियों ने परास्त होकर, अपमानित भरे क्रोध से कहने लगे कि हे! समय सुयोगवादी, लुढ़कपंथी,

संशयवादी, अनेकांतवादी तुम महान् मूर्ख एवं स्वार्थी हो। जिस समय जिस पक्ष की जीत होती है उस समय तुम उस पक्ष का पक्ष ले लेते हो। पराजय पक्ष को अपमानित करने से तुम पक्षपाती भी हो। वर्तमान में पक्षपात छोड़कर तुम बताओ कि कार्य–सिद्धि कैसे होती है?

तब अनेकान्तवादी अत्यन्त गंभीर एवं शांत मधुर स्वर में कहने लगा कि सुनो–

दूषयेत् अज्ञ एवोच्चैः स्याद्वादं नतुः पंडितः।
अज्ञ प्रलापे सुज्ञानां न द्वेष करणैव तु॥

अज्ञजन ही स्याद्वाद पर महान् दोषारोपण करते हैं, विज्ञ लोग नहीं। अज्ञानियों के प्रलाप पर विज्ञजन रोष न कर करुणा करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यह अज्ञता का कार्य है न कि उस पुरुष का। इसीलिए अज्ञ करुणा के पात्र हैं। यदि करुणा करके उसका अज्ञान दूर नहीं किया जायेगा तब वह दुर्गति का पात्र बन जायेगा। तुमने जो अनेकांतवाद को दोष लगाया यह तुम्हारा दोष नहीं है किन्तु तुम्हारी अज्ञता का द्योतक है। स्यात् शब्द संशयात्मक,भ्रमदनक, शायद संभवतः आदि का सूचक नहीं है। किन्तु सर्वैऐकान्त निषेधकोऽनेकान्तता– द्योतक, कथञ्चिदर्थे "स्याच्छब्दो निपातः"–

स्यात् शब्द निपात है। यह सर्वथापने का निषेधक अनेकान्तपने का द्योतक, कथंचित् अर्थवाला है। मैं तुम लोगों के प्रति दया करके भाग्य एवं पुरूषार्थ के यथार्थ स्वरूप का वर्णन के पहले तुम लोगों के वचन क्यों मिथ्या हैं? यह बता देता हूँ क्योंकि **'बिन जाने तै दोष गुणन को कैसे तजिए गहिए।'**

सच्छंददिट्ठिहिं विवप्पियाणि तेसट्ठि जुत्ताणि सयाणि तिण्णि।
पाखंडिणं वाउल कारणाणि अण्णाणिचित्ताणि हरंति ताणि॥

आप लोगों का श्रद्धान अर्थात् विश्वास वृषभ जैसे स्वच्छन्द अर्थात् मनमाना है जो कि पाखण्डी जीवों को व्याकुलता उत्पन्न करने वाला और अज्ञानी जीवों के चित्त को हरने वाला है।

पर समयाणं वयणं मिच्छं खलु होई सव्वहा वयणा।
जेणाणं पूण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो॥

तुम लोगों के वचन सर्वथा कहने से नियम से असत्य होते हैं और जैनमत के वचन 'कथंचित्' बोलने से सत्य है क्योंकि वह अनंत धर्मस्वरूप वस्तु को कथंचित् वचन से कहता है इससे सत्य है। क्योंकि एकवचन से वस्तु का एकधर्म ही कहा

जाता है। यदि कोई सर्वथा कहे कि वस्तु का स्वरूप ऐसे ही है तो बाकी के धर्मों के अभाव का प्रसंग होने से वह भी झूठा कहलायेगा। इस प्रकार एकान्त में दोष है अनेकान्त में गुण है। अभी भाग्य एवं पुरूषार्थ स्याद्वाद नीति से समन्वय कर रहे हैं--

अबुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरूषात्॥

अन्वय– अबुद्धिपूर्वक प्रेक्षायाम् इष्टानिष्टम् स्वदैवतः बुद्धिपूर्व व्यपेक्षाया इष्टानिष्टं स्वपौरूषार्थ भवति॥

अबुद्धिपूर्वक हुए कार्य की अपेक्षा से इष्ट अनिष्ट कार्य अपने दैव से हुए हैं ऐसा माना जाता है तथा जो कार्य बुद्धिपूर्वक किये जाये हैं उस अपेक्षा से इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरूषार्थ से हुए हैं ऐसा माना जाता है।

जो कार्य अनुकूल हो या प्रतिकूल हो यदि वह अतर्कितोपस्थित है अर्थात् उस–2 कार्य को करने का विचार रहित (अबुद्धिपूर्वक) है तो ऐसी स्थिति में वहाँ पुरूषार्थ की गौणता एवं भाग्य की प्रधानता मानी जायेगी अर्थात् इस स्थिति में जो कार्य होता है उसको भाग्यकृत कहेंगे। बुद्धिपूर्वक जो भी कार्य है और उसमें जो सफलता मिलती है उस समय वहाँ पुरूषार्थ प्रधान एवं दैव गौण माना जाता है। इस स्थिति में जो कार्य होता है उसको पुरूषार्थ से हुआ कहेंगे। इस तरह अबुद्धिपूर्वक जीव को जो सुख दुःखादिक होते हैं वह दैव की प्रधानता से होते हैं। तथा बुद्धिपूर्वक जो लाभ–अलांभ जीव को होते हैं वे पुरूषार्थ की प्रधानता से होते हैं इसप्रकार दोनों की प्रधानता एवं गौणता से ही कार्य बनता है। अनुकूल दैव और अनुकूल पुरूषार्थ, प्रतिकूल दैव, प्रतिकूल पुरूषार्थ होने पर भी एक मुख्य और एक गौण रहता है।

एकेनाकर्षन्ती स्लथयान्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीर्मन्थान नेत्रमिव गोपी॥

जिस तरह ग्वालिनी मक्खन बनाने रूप कार्य की सिद्धि के लिए दहीं की हांडी में मथानी चलाती है और उसकी रस्सी को जिसप्रकार एक हाथ से अपनी ओर खींचती हैं उस समय दूसरा हाथ शिथिल कर देती है और जब दूसरें हाथ से अपनी ओर खींचती है तब पहला शिथिल कर देती है एक को खींचने पर दूसरे को सर्वथा छोड़ नहीं देती यदि सर्वथा छोड़ देगी तो मक्खन निकलने की बात

तो दूर रही उसी की हाँडि खप्पर रूप में परिणमन हो जायेगी। मक्खन तो खा नहीं सकेगी वरन् सब दहीं जमीन खा लेगी। जिस समय दाहिने हाथ की ओर की रस्सी को खींचती है उस समय उस ओर की रस्सी ज्यादा सक्रिय रहती है एवं बाँये हाथ की रस्सी शिथिल रहती है किन्तु निष्क्रिय नहीं रहती यदि निष्क्रिय रहती तो उस ओर की रस्सी की आवश्यकता नहीं होने से उसे छोड़ देना चाहिए किन्तु सर्वथा छोड़ देने पर कार्य नहीं होता। इसप्रकार भाग्य कृत में पुरूषार्थ शिथिल एवं पुरूषार्थ कृत में भाग्य शिथिल रहता है किन्तु पूर्ण निष्क्रिय या अभाव नहीं रहता। इसी प्रकार स्याद्वाद कथन भी गौण मुख्य की अपेक्षा से है। जब भाग्य बलशाली रहता है तब वह अपना प्रभाव दिखाता है एवं जब पुरूषार्थ बलशाली रहता है तब वह अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता।

कर्म कर्म हिताबन्धि जीवो जीवहित स्पृहः।
स्व स्व प्रभाव भूयस्त्वे स्वार्थ को वान वाञ्छति॥

Karma works in its own cause that means karma; produces karma the soul works for its own good that is to say fight against that karmic power who is there in there in the world that will not work for his one good when he has the power to do so?

कर्म–कर्म का ही हित चाहते हैं। जीव–जीव का हित चाहता है। जीव कभी बलवान् होता है तो कभी कर्म बलवान् हो जाता है। इस तरह दोनों का अनादि से वैर चला आ रहा है। बलवान् भाग्य जब उदय में आता है तब जीव में मिथ्यात्व आदि भाव को पैदा कर अपनी संतान को पुष्ट कर जीव को अपने अधीन कर लेता है। जो अनादि काल से एकेन्द्रिय जीव निगोद राशि में पड़े हैं, भाग्य की तीव्र यातना सह रहे हैं वे बेचारे कया पुरूषार्थ करेंगे? जब तक एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक की पर्याय को धारण करते रहते हैं तब तक शुभ पुरूषार्थ भी नहीं कर सकते हैं। संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीवों के भी जब तक भाग्य के तीव्र बंध, उदय, सत्व रहता है तब तक उसको भी शुभ पुरुषार्थ करने की योग्यता नहीं होती। जिनके कर्मों की स्थिति अंतः कोड़ाकोड़ी सागर से अधिक होती है उसके प्रथमोपशम–सम्यक्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है जो कि शुभ पुरूषार्थ की प्राथमिक अवस्था है किन्तु जिनके बंध को प्राप्त होने वाले कर्मों की स्थिति अंतः कोड़ाकोडी सागर प्रमाण प्राप्त होती है और सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति

संख्यात हजार सागर कम अंतः कोड़ाकोड़ी सागर शेष रह जाती है वही प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं और जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता तब तक मोक्ष के लिए कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता। अतः पुरूषार्थी सदैव भाग्य की सहायता चाहता है। सिर्फ उदय के समय में ही भाग्य अपना प्रभाव दिखाता है, ऐसी बात नहीं किन्तु सत्ता एवं निर्जरा के बाद भी किंचित् अपना प्रभाव डालता है। जिसके वर्तमान में नरक तिर्यन्च आयु है वह जीव अणुव्रत या महाव्रत धारण नहीं कर सकता। सातवें नरक से आया हुआ जीव मोक्ष नहीं जा सकता है। व्यवहार में भी दैनंदिनी अनुभव सिद्ध देव पुरूषार्थ का कार्य वांणिज्य में, मशिक्षा क्षेत्र में, कृषि आदि में देखने में आते हैं। समान पुरूषार्थ करने वालों में भी कोई एक सफलता प्राप्त करता है तो और अन्य कोई असफलता को प्राप्त होता है। एक जीव ने पुण्य से न्याय रूप पुरूषार्थ से संपदा प्राप्त की किन्तु वह सम्पदा सुख देने वाली तभी हो सकती है जब पुण्य का उदय हो परन्तु पुण्य के उदय नहीं रहने पर वही सम्पदा सुख नहीं दे सकती। अतः पुण्य संसार सुख का कारण है उससे सम्पदादिक प्राप्त होती है किन्तु यह एकान्त नहीं कि पुण्य से सम्पदा प्राप्त हो और पुरूषार्थ से नहीं हो या पुरूषार्थ से ही हो दैव से नहो किन्तु दोनों में से एक की गौणता एवं एक की मुख्यता पर अवलम्बित है।

दैव पुरूषार्थ की सप्तभंगी

1. स्यात् भाग्यकृत्– अबुद्धिपूर्वक की अपेक्षा से।
2. स्यात् पुरूषार्थकृत्– बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा से।
3. स्यात् भाग्य पुरूषार्थ कृत्– क्रम से अबुद्धिपूर्वक और बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा से।
4. स्यात् अवक्तव्य– युगपत् दोनों विवक्षाओं को नहीं कह सकने की अपेक्षा से।
5. स्यात् भाग्यकृत् अवक्तव्य– अबुद्धिपूर्वक और युगपत् न कह सकने की विवक्षा से।
6. स्यात् पुरूषार्थकृत् अवक्तव्य– बुद्धिपूर्वक और युगपत् न कह सकने की विवक्षा से।
7. स्यात् भाग्य पुरूषार्थकृत् अवक्तव्य– क्रम से अबुद्धिपूर्वक एवं युगपत् न कह सकने की विवक्षा से।

इसप्रकार दैव एवं पुरूषार्थ परस्पर सापेक्ष है। अनादि से भाग्य शक्तिशाली है। काललब्धि पाकर जब जीव शक्तिशाली होता है तब वह भाग्य की शक्ति को धीरे–2 अपने पुरूषार्थ के बल पर नाश करते हुए शेष में संपूर्ण रूप से

भाग्य को नाश करके अपना विजय–वैजयन्ती अनन्त काल के लिए लोकाग्र में फहरा देता है। हम सभी को उस झण्डे के नीचे प्रतिज्ञाबद्ध होना है कि जबतक उस झण्डे को प्राप्त नहीं कर सकते तब तक चिर शत्रु रूपी भाग्य के साथ युद्ध करने में पीछे नहीं हटेंगे। **''पीछे हटे नाहीं वीर की जात के, न मरे वह कभी परान आतङ्के''**। संक्षिप्ततः संसार में परिभ्रमण करने के लिए एवं अभव्य के लिए भाग्य प्रधान है, पुरूषार्थ गौण है किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए भव्य के लिए पुरूषार्थ प्रधान एवं भाग्य गौण है। **(आचार्य श्री कनकनन्दी की क्षुल्लकावस्था का लेख)**

22वें धर्म दर्शन विज्ञान प्रशिक्षण शिविर (गींगला) के अवसर पर दिल्ली वि.वि. के प्रो. डॉ. एम.एम. जैन को आ.श्री द्वारा स्व–रचित साहित्य प्रदान

4 दैव (कर्म) सिद्धान्त का वैज्ञानिक विश्लेषण

विश्व शाश्वतिक अनादि–अनंत है। इस शाश्वतिक विश्व में संचरण करने वाले जीव भी अनादि से हैं। विश्व में जीव को परिभ्रमण कराने का जो कारण है वह है 'कर्म'। बिना कर्म के संयोग से जीव की विचित्रपूर्ण विभिन्न अवस्थायें, गतिविधियां नहीं हो सकतीं। संसार अनादि होने के कारण संसार में संसरण करने वाले संसारी जीवों के कर्म भी अनादि हैं। परन्तु जो भव्य हो, वह अनादि परम्परा से प्रवाहमान कर्म को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करके निष्कलंक सिद्ध, बुद्ध बन जाता है। इसलिए भव्य जीव की अपेक्षा कर्म अनादि होते हुए भी सान्त है। परन्तु जो अभव्य जीव हैं, जो कभी भी कर्मों के बन्धन से विमुक्त होकर शाश्वतिक सुख का अनुभव नहीं कर सकते, उनकी अपेक्षा कर्म अनादि अनन्त है।

कर्म को प्रायः प्रत्येक दार्शनिक एवं धार्मिक परम्परा स्वीकार करती है। कोई कर्म को भाग्य कहता है, तो कोई अदृष्ट अन्य एक पूर्वकृत। अन्यान्यदर्शन कर्म को स्वीकार करते हुये भी और उसका प्रतिपादन करते हुए भी जैन धर्म में जो सूक्ष्म वैज्ञानिक तर्कपूर्ण गाणितिक विस्तृत वर्णन पाया जाता है, वैसा वर्णन मुझे अन्य किसी दार्शनिक या धार्मिक साहित्य में देखने को नहीं मिला। जैन दर्शन कर्म को केवल एक भावात्मक संस्कार स्वीकार नहीं करता है, अपरंच भौतिक (पौद्गलिक, जड़ात्मक, रासायनिक, जैविक–रासायनिक) संस्कार (संश्लेष–बन्धन, संयोग) भी मानता है। जिस समय में जीव अज्ञान, ईर्ष्या, काम–क्रोध आदि के वशीभूत होकर कुछ मन, वचन या काय से कार्य करता है, उस समय में जीव के सम्पूर्ण आत्मप्रदेश में परिस्पंदन होता है। उस परिस्पंदन से आकर्षित होकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त कर्मवर्गणाओं में से कुछ वर्गणायें आकर्षित होकर आती हैं, इसको कर्मास्रव कहते हैं। यह कर्माण वर्गणा भौतिक (पौद्गलकि परमाणुओँ के समूह स्वरूप) होती है। रागद्वेषादि कषाय भाव से आकर्षित हुई कर्म वर्गणाएँ आत्मा के असंख्यात प्रदेश में संश्लेष रूप से मिल जाती हैं, इसको कर्मबन्ध कहते हैं। जैसे, धन विद्युत एवं ऋण विद्युत से आवेशित होकर के लौहखण्ड, चुम्बक रूप में जब परिणमन करता है तब स्वक्षेत्र में स्थित योग्य

लौहखण्ड को आकर्षित करता है। उसी प्रकार राग (धनात्मक आवेश, आसक्ति / आकर्षण) द्वेष (ऋणात्मक आवेश, विद्वेश, विकर्षण) से आवेशित होकर, जीव भी स्वयोग्य कर्माण वर्गणाओं को आकर्षित करके स्वप्रदेश में संश्लेष रूप से बाँधता है, और कुछ यहाँ ध्यातव्य विषय यह है कि अनेक कार्माण वर्गणाएं भी जब तक जीव के योग और उपयोग से प्रभावित नहीं होती तब तक बंधरूप में परिणमन करके कर्म अवस्था को प्राप्त नहीं करती हैं। उनमें से कुछ वर्गणाएं सामान्य वर्गणा है तो कुछ वर्गणआएं उम्मीदवार(प्रत्याशीरूप) हैं। जैसे– देश के सामान्य नागरिक होते हैं, उनमें से कुछ नागरिक, एम.एल.ए., एम.पी. बनने के लिए प्रत्याशी होते हैं। जब नागरिकों से मत (वोट) प्राप्त करके जययुक्त होते हैं, तब वे एम.एल.ए., एम.पी.,मंत्री बन जाते हैं। मंत्री आदि बनने पर सामान्य नागरिक से अधिक सत्ताधारी होकर दूसरों पर अनुशासन करते हैं। उसी प्रकार सामान्य वर्गणाएं सामान्य नागरिक के समान होती हैं। जब राग–द्वेष रूपी मत प्राप्त कर लेती है तब विशेष शक्तिशाली होकर जीव के ऊपर ही अनुशासन चलाती हैं। जैसे सामान्य नागरिक मत प्राप्त करके विभिन्न विभाग के मंत्री आदि बनते हैं। उसी प्रकार कार्माण वर्गणाएँ राग द्वेष आदि मत प्राप्त करके ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत कर लेती हैं। एक समय में, एक साथ एक–दो परमाणु कर्मरूप परिणमन नहीं करते, इतना ही नहीं, करोड़ों,अरबों, संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु भी कर्मरूप में परिणमन नहीं करते हैं किन्तु केवल अनन्तानत परमाणु कर्मरूप में एक साथ परिणमन करते हैं। जिस समय में कर्म बंधते हैं उस समय में आत्मा के एक दो एक या करोड़ो–अरबों प्रदेश में एक साथ नहीं बन्धते हैं किन्तु जब कर्म बन्धेगें तब सम्पूर्ण आत्मा में एक साथ ही कर्म बन्धते हैं। प्रत्येक जीव के मध्य के आठ आत्मप्रदेश चलायमान नहीं होने पर भी कर्मबन्धन से सहित ही है क्योंकि अन्यान्य आत्मप्रदेश में जब परिस्पन्दन होता है तब कर्म वर्गणाएं आकर्षित होकर आती है। आत्मा के असंख्यात् प्रदेश अखण्ड होने के कारण तथा आठ मध्य प्रदेश में द्रव्य कर्म, भावकर्म, नोकर्म होने के कारण आकर्षित हुई कार्माण–वर्गणाएं भी आठ मध्यप्रदेश में विभाजित होकर बन्ध जाती हैं। यदि आठ मध्यप्रदेश कर्म से रहित हो जायेंगे तब प्रत्येक संसारी जीव भी अनंत, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का स्वामी बन जायेगा, परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष विरोध है।

यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनंतानंत परमाणु को छोड़कर संख्यात,

असंख्यात परमाणु कर्मरूप में परिणमन क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर देते हुये पूर्वाचार्य ने कहा है कि अनंतानंत परमाणुओं के समूह स्वरूप वर्गणा को छोड़कर अन्य वर्गणा में कर्मरूप परिणमन की योग्यता नहीं होती है। यह तो हुआ आगमोक्त उत्तर। कुछ तार्किक दृष्टि से विचार करने पर यह सत्य सिद्ध भी होता है। तर्क यह है जब बंध होता है तब युगपत् आत्मा के असंख्यात प्रदेश में कर्मबंध होते हैं। असंख्यात प्रदेश में युगपत् कर्मबन्ध होने के कारण युगपत् सम्पूर्ण आत्मप्रदेश में योग (परिस्पंदन) एवं उपयोग (कषाय भाव) का होना है। यदि एक साथ असंख्यात प्रदेश में कर्मबंधते हैं तब असंख्यात से कम परमाणु से तो कार्य ही नहीं चलेगा। दूसरा तर्क यह है कि एक आत्मा अनादि से कर्म बद्ध होने के कारण एक–एक आत्मप्रदेश में अनंतानंत परमाणु बंधे हुये हैं। जो नये कर्म परमाणु बंधते हैं, वे प्राचीन कर्म परमाणु के साथ बंधते हैं इसलिए उन कर्म परमाणु के साथ बंधने के लिए अनंतानंत परमाणु की आवश्यकता होती है, और भी एक तर्क यह है कि प्रत्येक आत्मप्रदेश में अनंत ज्ञान, सुख, वीर्य आदि मौजूद है। उन अनंत शक्तियों को पराभूत करने के लिए अनंत शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए अनंत शक्तिशाली जीव को पराभूत करके, बंधन में डालकर, संसार में परिभ्रमण कराने के लिये अनंतानंत परमाणु की आवश्यकता होती है। जैसे– सामान्य पशु को बाँधने के लिए सामान्य रस्सी से काम चल सकता है, परन्तु विशेष शक्तिशाली पशु सिंह, हाथी आदि के लिए विशेष रस्सी आदि की आवश्यकता होती हैं। और भी एक तर्क यह है कि एक समय में जो कर्म वर्गणाएं निर्जरित होती हैं, उस वर्गणा में अनंतानंत परमाणु रहते हैं। ''व्यय के अनुसार आय'' इस न्यायानुसार व्यय परमाणु अनंतानंत होने के कारण आय परमाणु भी अनंतानंत होने ही चाहिए।

आस्रव एवं बंध तत्व संसार तत्व है। इस आस्रव एवं बंध तत्व के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इसीलिए दोनों तत्व हेय (त्यजनीय) हैं। प्रत्येक समय में जीव योग और उपयोग से जैसे–कर्म को आकर्षित करके बांधता है, वैसे ही स्वाभाविक स्थिति बंध के क्षय से, कर्म की निर्जरा भी होती है, परन्तु यह निर्जरा नवीन कर्मबंध के लिए कारणभूत हो जाती है, क्योंकि जिस समय कर्म उदय में आकर निर्जर्ण होता है, उस समय जीव में उदय प्राप्त कर्म के निमित्त से तज्योग्य, योग और उपयोग होता है। उस योग व उपयोग से प्रेरित होकर

पुनः कर्म का आस्रव एवं बंध हो जाता है। इसलिए इस प्रकार की निर्जरा की सविपाक निर्जरा–अकुशल निर्जरा, अकाम निर्जरा कहते हैं। जैसे–बीज योग्य भूमि में गिरने के बांद वृक्ष रूप में परिणमन कर लेता है उसी प्रकार यह निर्जरा नए कर्म को जन्म देने के कारण भी बन जाती है। यह निर्जरा विशेषतः एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तथा मिथ्यात्व गुण स्थान में होती है। सत्य–प्रीति, सद्ज्ञान, सदाचरण के माध्यम से जो कर्म आत्मा से पृथक् होता है, उसको अविपाक निर्जरा, सकाम निर्जरा या सकुशल निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा परम्परा से मोक्ष तत्व के लिए कारणभूत है। आध्यात्मिक जागरण के बाद कुछ विशेष पापकर्म का आना रुक जाता है, उसको संवरण या संवर कहते हैं। संवर पूर्वक निर्जरा ही यथार्थ से उपादेय है, इसलिए संवर एवं निर्जरा मोक्ष तत्व के लिए कारणभूत है। जब सम्पूर्ण आध्यात्मिक जागरण या रत्नत्रय की पूर्णता होती है, तब सम्पूर्ण कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं– गल जाते हैं, खिर जाते हैं तब उसको मोक्ष तत्व कहते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्तसे यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण जीव अनादिकाल से कर्मबंधन से जकड़े होते हुए भी आध्यात्मिक पुरूषार्थी जीव सम्पूर्ण बंधनों को तोड़कर, सर्वशक्तिमान, पूर्ण स्वतंत्र, शुद्ध–बुद्ध भगवान् बन जाता है परन्तु जो आध्यात्मिक पुरूषार्थ से हीन होते हैं, वे कर्म बंध से रहित होकर सुख का आस्वादन नहीं ले पाते हैं, अर्थात् अनादिकाल से कर्म बलवान होते हुए भी भव्य जीव का पुरूषार्थ कर्म से भी अधिक शक्तिशाली होने से अन्त में भव्य जीव स्व पुरूषार्थ से सम्पूर्ण कर्म को नष्ट करके परमात्मा बन जाता है परन्तु अभव्य जीव के लिए कर्म अनादि से बलवान है एवं अनंत तक बलवान ही रहेगा। अन्य एक दृष्टिकोण से विचार करने पर जैसे बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही पुरूषार्थ से कर्म की उत्पत्ति होती है। वर्तमान का पुरूषार्थ भविष्य के लिए भाग्य बन जाता है, इसलिए भाग्य और पुरूषार्थ परस्पर में जन्य, जनकत्व, अनुपूरक, परिपूरक हैं। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान में कोई सुखी या दुःखी है तो सुख–दुःख का उत्तरदायित्व स्वोपार्जित पूर्व कर्म है। इसलिए उस सुख–दुःख के लिए बाह्य निमित्त मुख्य कारण मानकर दूसरों पर रागद्वेष करना अज्ञानियों का काम हैं। प्रत्येक सुख–दुःख के लिए स्वोपार्जित पूर्व कर्म ही उपादान कारण हैं तो अन्य बाह्य कारण निमित्त कारण है। ज्ञानियों को यथार्थ रहस्य का परिज्ञान करके मूल कारण को ही हटाना चाहिए। जैसे सिंह पर कोई लाठी प्रहार करता है तो वह लाठी को नहीं पकड़ता

है परन्तु प्रहार करने वाले को ही पकड़ता हैं। परन्तु कुत्ते को कोई लाठी से प्रहार करता है तो वह लाठी को ही पकड़ता है, आदमी को नहीं। उसी प्रकार ज्ञानी सिंह के समान सुख–दुःख का मूल कारण कर्म को जानकर उसके निर्मूलन करने का पुरूषार्थ करता है, परन्तु अज्ञानी कुत्ते के समान कर्म को नहीं जानता हुआ अन्य बाह्य कारण, अन्य जीव या वस्तु आदि को मानकर उसको ही नष्ट करने का पुरूषार्थ करता है। वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस कर्म बंध सिद्धान्त पर निम्न प्रकार से विचार कर सकते हैं।

प्रत्येक द्रष्टव्य भौतिक पदार्थ तो छोटे–छोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है, जिन्हें अणु कहते हैं। यह अणु ही परस्पर संयुक्त होकर इतना बड़ा कण (स्कन्ध) बनाते हैं अथवा बनाते जाते हैं कि वे दृष्टव्य हो जाते हैं। प्रश्न यह है कि यह अणु परस्पर संयुक्त क्यों होते हैं ? इन सभी अणुओं में एक विशेष पारस्परिक आकर्षण बल होता है जिसके द्वारा ही ये परस्पर संयुक्त होते हैं किन्तु यह बल स्थायी नहीं होता, इसी कारण किसी बाह्य अथवा आन्तरिक (बहिरंग या अंतरंग) बल से प्रेरित होकर ये विभक्त (पृथक्) हो जाते हैं इस बल को वाण्डर वाल आकर्षण बल [Vander Waals force of attraction] व बंध के टूटने को (Cleavagege braking) कहते हैं। जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त के आधार पर इस आकर्षण को आस्रव कहते हैं व पृथक् होने को 'निर्जरा' कहते हैं। जीव एवम् कार्माण वर्गणाओं (molecules having the nature of KARMA] के परस्पर संश्लेषण – संबंध को कर्म–बन्ध (bond formation) कहते हैं।

अणुसिद्धान्त के अनुसार किसी भी पुद्गल का किसी अन्य पुद्गल से संबंध संसजन बल (co-adhesive force) जो समान अणुओं में कार्य करता है। व असंजन बल (adhesive force) (जो विपरीत प्रकृति के अणुओं में कार्य करता है) के द्वारा होता है, चाहे वह एक से हो, दो से हो अथवा संख्यात या असंख्यात पुद्गलों से हो।

अनेकान्त एवं स्याद्वाद

अनेकान्त

स्वभाव से ही प्रत्येक द्रव्य अनेक धर्म से युक्त होता है इसलिये प्रत्येक द्रव्य स्वभावतः ही अनेकान्तमय है। जैसे रामचन्द्र एक मर्यादा पुरूषोत्तम थे। वे लव–कुश की अपेक्षा पिता, दशरथ की अपेक्षा पुत्र, लक्ष्मण की अपेक्षा बड़े भाई, सीता की अपेक्षा पति, जनक की अपेक्षा दामाद (जमाई), सुग्रीव की अपेक्षा मित्र, रावंण की अपेक्षा शत्रु, हनुमान की अपेक्षा प्रभु आदि अनेक धर्म से युक्त थे। राम एक होते हुये भी दशरथ की अपेक्षा पुत्र होते हुये भी लव–कुश की अपेक्षा पिता रूप विरोधी गुण से युक्त थे। तो भी अपेक्षा की दृष्टि से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इसी प्रकार अन्यान्य गुण अपने अपने स्थान पर अविरूद्ध एवं उपयुक्त हैं।

100 संख्या 10 संख्या की अपेक्षा अधिक होते हुए भी 1000 संख्या की अपेक्षा कम है। जैसे सेव फल नारियल से छोटा होते हुये भी आँवले की अपेक्षा बड़ा है। आंवला सेव फल से छोटा होने पर भी इलायची की अपेक्षा बड़ा है। घी निरोगी के लिये शक्ति दायक होते हुए भी ज्वर–रोगी के लिये हानिकारक है। अग्नि चिमनी में रहते हुए उपकारक है परन्तु पैट्रोल–टंकी में डालने पर अपकारक है। अग्नि एक होते हुए भी पाचकत्व, दाहकत्व, प्रकाशकत्व, आदि गुणों के कारण अनेक भी है। एक आत्मा स्वभावतः एक होते हुए भी अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरूलघुत्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुण के कारण अनेक है। इस प्रकार विश्व के प्रत्येक द्रव्य अनेक विरोधी गुणों से एवं अविरोधी गुणों से युगपत् (एक साथ) युक्त होने के कारण अनेकान्तमय है।

स्याद्वाद

वक्ता एक समय में एक ही धर्म को कह सकता है, अन्य अनेक धर्म होते हुए भी वह नहीं कह सकता है। प्रतिपादित धर्म को छोड़कर अन्य धर्म को स्वीकार करने के लिये अथवा सूचना के लिये स्यात् या कथंचित् शब्द प्रवक्ता प्रयोग करता है। अनेकान्त प्रकरण में बताया गया है कि प्रत्येक द्रव्य में एक साथ अनन्त धर्म

विद्यमान रहते हैं। शब्द में सीमित शक्ति होने के कारण वक्ता एक समय में एक गुण का वर्णन कर पाता है अन्य धर्म का नहीं तो भी अन्य धर्म लोप नहीं होते हैं, किन्तु अविवक्षित हो जाते हैं। जैसे एक वक्ता बोलता है कि रामचन्द्र दशरथके पुत्र थे। इस वाक्य में पुत्रत्व धर्म को छोड़कर पितादि अन्य धर्म का वर्णन नहीं किया, तो भी पितादि गुण लोप नहीं हो गये। इस पितादि गुण को सुरक्षित करने के लिये, उनकी सत्ता को स्वीकार करने के लिये स्यात् शब्द का प्रयोग करता है। स्यात् का अर्थ है, अपेक्षा से, कथंचित्, एक दृष्टि से। यदि वक्ता हठग्राही पूर्वक बोलेगा कि रामचन्द्र केवल पुत्र ही हैं तो अन्य पितादि धर्म लोप करने के कारण उसका अभिप्राय एवं वचन मिथ्या हो जायेगा।

स्याद्वाद के सप्त भंग

1. **स्यात् अस्ति–** एक अपेक्षा से द्रव्य हैं। जैसे– रामचन्द्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र हैं।

2. **स्यात् नास्ति–** अन्य अपेक्षा से द्रव्य नहीं। जैसे–रामचन्द्र लवकुश की अपेक्षा पुत्र नहीं है।

3. **स्यात् अव्यक्तव्य–** एक साथ दो गुणों का वर्णन एक शब्द में नहीं हो सकता है अतः अव्यक्तव्य है। जैसे– रामचन्द्र, दशरथ एवं लवकुश की अपेक्षा एक साथ क्या हो सकता है ? पुत्र अथवा पिता। इस पिता पुत्र रूपी गुण को हम दशरथ एवं लवकुश की अपेक्षा एक शब्द में वर्णन नहीं कर सकते हैं। इसलिये अव्यक्तव्य अर्थात् वचन के अविषय है।

4. **स्यात् अस्ति नास्ति–** स्वगुण की अपेक्षा एवं पर गुण की अपेक्षा जो क्रम से वर्णन किया जाता है उस भंग को अस्ति नास्ति भंग कहा जाता है। जैसे– रामचन्द्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र है, लवकुश की अपेक्षा पुत्र नहीं है।

5. **स्यात् अस्ति अव्यक्तव्य–** क्रमशः स्वगुण की अपेक्षा द्रव्य है, और युगपत् स्वपर की अपेक्षा वस्तु अव्यक्तव्य है। जैसे– रामचन्द्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र है और दशरथ तथा लवकुश की अपेक्षा युगपत् अव्यक्तव्य है।

6. **स्यात् नास्ति अव्यक्तव्य–** क्रमशः पर गुण की अपेक्षा द्रव्य नहीं है और युगपत् स्वपर गुण की अपेक्षा अव्यक्तव्य है। जैसे रामचन्द्र लवकुश की अपेक्षा पुत्र नहीं है और दशरथ तथा लवकुश की अपेक्षा युगपत् अव्यक्तव्य है।

7. *स्यात् अस्ति नास्ति अव्यक्तव्य–* क्रमशः स्वधर्म की अपेक्षा वस्तु है, पर धर्म की अपेक्षा वस्तु नहीं है, युगपत् स्वपर धर्म की अपेक्षा अव्यक्तव्य है। जैसे– रामचन्द्र दशरथ की अपेक्षा पुत्र है, लवकुश की अपेक्षा पुत्र नहीं है, दशरथ और लवकुश की अपेक्षा युगपत् कहने की अपेक्षा अव्यक्तव्य है।

अनेकान्त भावात्मक अहिंसा है, स्याद्वाद वाचनिक अहिंसा है। अनेकान्त एवं स्याद्वाद, समन्वय के लिये, विश्व शांति के लिये अमृततुल्य है।

द्रव्य में स्थित समस्त गुण, धर्म, पर्यायों की सत्ता को स्वीकार करने से द्रव्यों के पूर्ण गुणादि की रक्षा होती है तथा मन में यथार्थ भाव होने के कारण भाव अहिंसा होती है। अहिंसा का अर्थ दूसरों की सत्ता को स्वीकार करना भी है। स्याद्वाद से अन्य अविवक्षित धर्मों को वचन के माध्यम से घात नहीं पहुंचाने के कारण वाचनिक अहिंसा हुई। विश्व में जो अशान्ति, विप्लव, युद्ध होता है, उसका मूल कारण दूसरों की सत्ता को ठुकराना, अधिकार को स्वीकार नहीं करना, उनके सत्यांश को मान्यता नहीं देना है परन्तु अनेकांत एवं स्याद्वाद उपरोक्त दोषों को दूर करते हैं, जिससे विश्व में समन्वय एवं शांति की स्थापना हो सकती है। दोनों सिखाते हैं कि तुम्हारा जो सत्य है उस सत्य को बिना त्याग किये अन्य की सत्यांश को स्वीकार करो, सन्मान दो।

"Right is mine" जो सत्य है वह मेरा है, यह अनेकांत का अमर संदेश है। परन्तु "Mine is right" मेरा जो कुछ हो वह सब सत्य है मानना अनेकांत एवं स्याद्वाद की उदारनीति के विरूद्ध है। वे इस संकीर्ण स्वार्थपूर्ण हठग्रहिता को नहीं मानते हैं। अनेकांत से मनोभाव, हृदय उदार एवं विशाल हो जाता है। स्याद्वाद से वचन हित,मित, प्रिय अमृतोपम हो जाता है। अनेकांत मानसिक औषधि है एवं स्याद्वाद वाचनिक औषधि है। पहिले अनेकांत–स्याद्वाद के ऊपर गहन अध्ययन के अभाव से या कुछ संकीर्ण मनोभाव से कुछ लोग विरोध करते थे। परंतु जितना–जितना मनुष्य समाज तार्किक की ओर बढ़ा, निरपेक्ष दृष्टि से देखने लगा, विज्ञान का नवीन शोध हुआ धर्म एवं दर्शनों का तुलनात्मकत अध्ययन हुआ तब अनेकांत, स्याद्वाद का महत्व दिन दुगना रात चौगुना बढ़ रहा है। इसका वर्णन अन्य धर्म में यत्र–तत्र आंशिक रूप में होते हुये भी विधिवत् रूप से सूक्ष्म वर्णन नहीं है। वर्तमान भौतिक विज्ञान जगत् में महामना, सात्विक, समन्वय एवं अहिंसावाद के

पुजारी महावैज्ञानिक आईन्स्टीन ने जो शोध, बोध करके जगत् को चमत्कृत कर दिया है। इससे विज्ञान में एक नई क्रांति एवं दिक् परिवर्तन हुआ है। उसका मूल कारण सापेक्ष सिद्धांत है। अभी दार्शनिक हो, वैज्ञानिक हो या राजनैतिक सबकी दृष्टि अनेकांत की ओर बढ़ रही है, यह विश्व के लिये मंगल सूचक है। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है–

जेण विणा लोगस्स य ववहार सव्वदा ण निव्वठई।
तेण भुवणैकगुरुणा णमो अनेकांत वायस्स॥

जिस अनेकांत वाद के बिना लोक–व्यवहार भी नहीं चलता है उस जगत् का एकमेव गुरु अनेकांत वाद को मेरा नमस्कार हो।

आ.श्री कनकनंदीजी द्वारा रचित ग्रन्थों का विमोचन करते हुए श्री निरंजनलाल बेनाड़ा (आग्रा) सानिध्य मुनिश्री क्षमासागरजी (शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी)

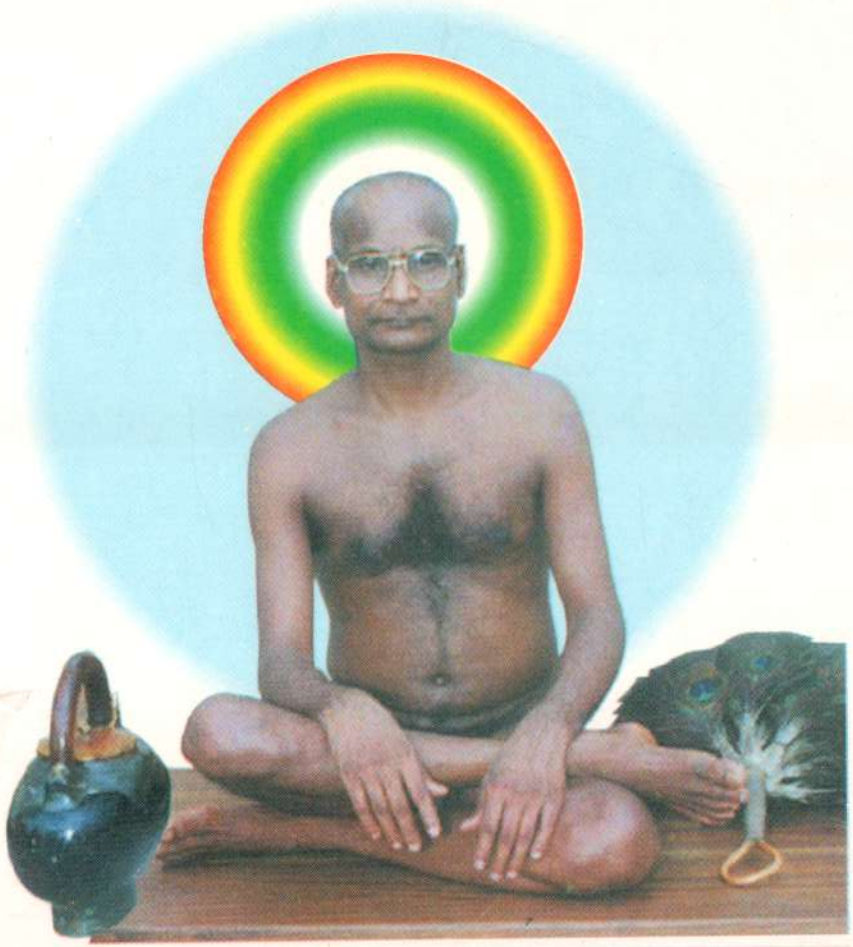

आ. रत्न श्री कनकनन्दीजीश्री गुरुदेव